विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

वर्ष: २१ अंक: ४
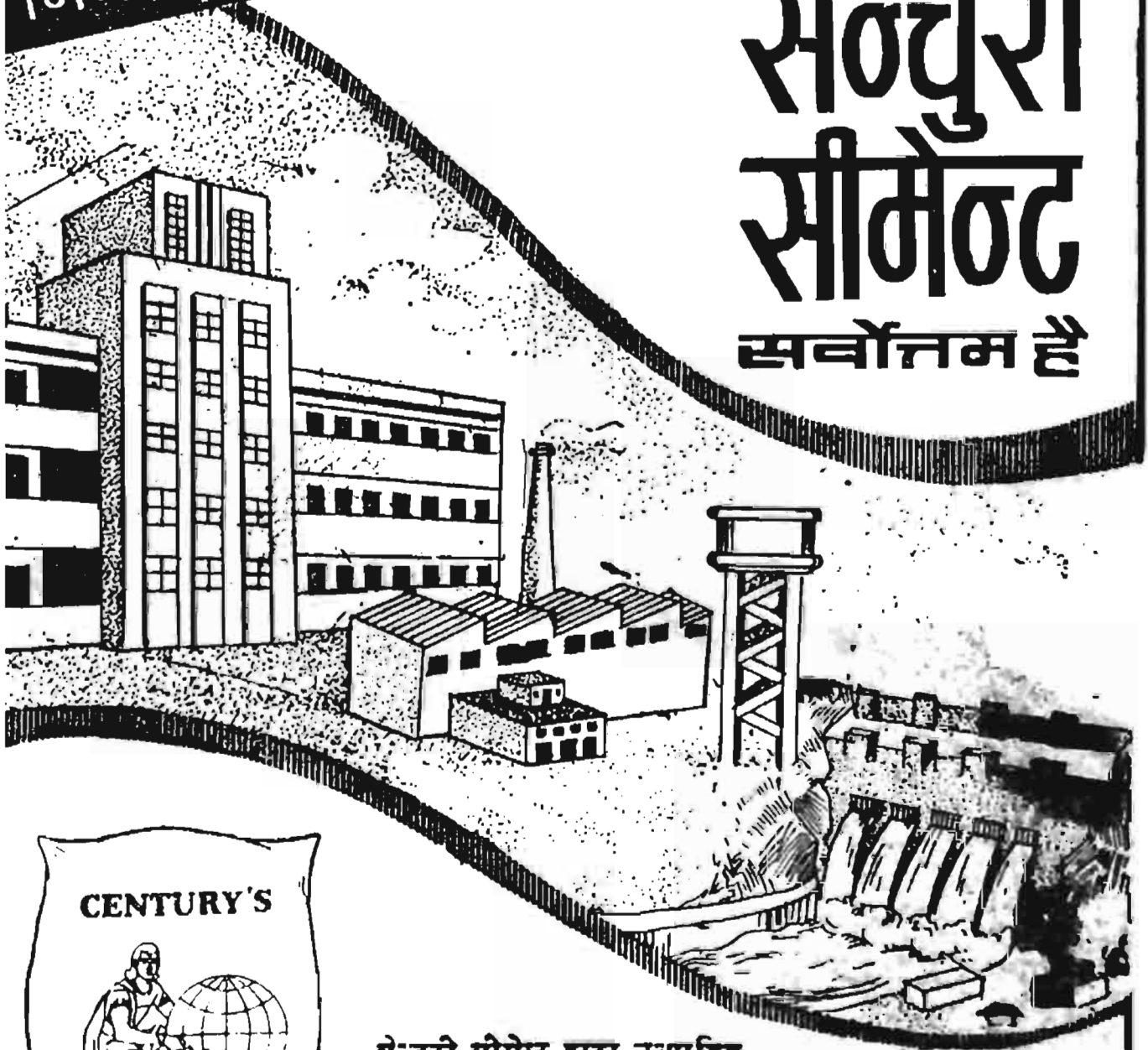
Dakhole

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर–नवम्बर–दिसम्बर

* १९८३ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

सह-व्यवस्थापक

स्वामी ज्ञानातीतानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)— १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रण स्थल : सरस्वती प्रेस, डीग गेट, मथुरा—२८१००१ (उ.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २१] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

* १९८३ *

मोक्ष में स्व-प्रयत्न ही प्रधान

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥
मस्तकन्यस्तभारादेर् दुःखमन्यैर्निवार्यते ।
क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ॥

—पिता के ऋण को चुकानेवाले तो पुत्रादि भी होते हैं, परन्तु भव-बन्धन से छुड़ानेवाला अपने से भिन्न और कोई नहीं है। जैसे सिर पर रखे हुए बोझे का दुःख और भी दूर कर सकते हैं, परन्तु भूख-प्यास आदि का दुःख अपने सिवा और कोई नहीं मिटा सकता।

—विवेकचूड़ामणि, ५३-५४

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

पॅसाडेना,
२० फरवरी, १९००

प्रिय मेरी,

श्री हेल की मृत्यु के दुःखद समाचार के साथ तुम्हारा पत्र मुझे कल मिला। मैं दुःखित हूँ, क्योंकि मठ-जीवन की शिक्षाओं के बावजूद हृदय की भावनाएँ बनी रहती हैं; और फिर जिन अच्छे लोगों से मैं जीवन में मिला, उनमें श्री हेल एक उत्कृष्ट व्यक्ति थे। निस्सन्देह तुम्हारी स्थिति दुःखपूर्ण तथा दयनीय है; और यही हाल 'मदर चर्च' का और हैरियट तथा बाकी लोगों का भी है, खासकर जब कि अपनी तरह का यह पहला दुःख तुम लोगों को मिला है, ठीक है न ? मैं तो कई को खो चुका हूँ, बहुत दुःख झेल चुका हूँ और विचित्र बात है कि किसी के गुजर जाने के बाद दुःख यह सोचकर होता है कि हम उस व्यक्ति के प्रति काफी भले नहीं रहे। जब मेरे पिता मरे, तब मुझे महीनों तक कसक बनी रही, जबकि मैं उनके प्रति अवज्ञाकारी भी था।

तुम बहुत आज्ञाकारी रही हो। और यदि तुम्हारे मन में इस प्रकार की बातें आती हैं, तो वह शोक के कारण ही।

मुझे लगता है, मेरी, कि जीवन का वास्तविक अर्थ

तुम्हारे लिए अभी ही खुला है। हम लाख अध्ययन करें, व्याख्यान सुनें और लम्बी-चौड़ी बातें करें, पर यथार्थ शिक्षक और आँख खोलनेवाला तो अनुभव ही है। यह जैसा है, उसी रूप में उत्तम है। सुख और दुःख से हम सीखते हैं। हम नहीं जानते कि ऐसा क्यों है, पर हम देखते हैं कि ऐसा है और यही पर्याप्त है। 'मदर चर्च' को तो अपने धर्म से आश्वासन मिलता है। काश, हम सभी निर्विघ्न रूप से सुस्वप्न देख सकते।

तुम अभी तक जीवन में छाँह पाती रही हो। मैं तो सारे समय तेज घाम में जलता और हाँफता रहा हूँ। अब एक क्षण को तुम्हें जीवन के इस दूसरे पक्ष की झलक मिली है। पर मेरा जीवन इस तरह के लगातार आघातों से बना है, सैकड़ों गुने गहरे आघातों से और वह भी निर्धनता, छल और मेरी अपनी मूर्खता के कारण ! निराशावाद ! तुम समझोगी कि कैसे यह आ दबोचता है। खैर, मैं तुमसे क्या कहूँ, मेरी ! तुम इस तरह की सब बातें जानती हो। मैं केवल इतना ही कहता हूँ—और यह सत्य है—कि यदि दुःख का विनिमय सम्भव हो और मेरा मन हर्ष से परिपूर्ण हो, तो मैं अपना मन तुमसे हमेशा हमेशा के लिए बदल लूं। जगन्माता इसे अच्छी तरह जानती हैं।

तुम्हारा भाई,
विवेकानन्द

●

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

तीसरा प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बंगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं।—स०)

पहली मुलाकात के दिन ठाकुर के साथ मास्टर महाशय की अधिक बातचीत नहीं हुई थी। दूसरी बार जब भेंट हुई, तब ठाकुर ने मास्टर महाशय से कुछ प्रश्न किये थे। वही प्रसंग अभी चल रहा है।

मास्टर महाशय ने कहा कि जो लोग मिट्टी की मूर्ति की पूजा करते हैं, उन्हें समझा दिया जाना चाहिए कि मिट्टी की प्रतिमा भगवान् नहीं है।

इस बात से असन्तुष्ट हो ठाकुर कह रहे हैं, "तुम कलकत्तावालों की बस यही एक बात है! केवल लेक्चर देना और समझा देना।"

ठाकुर की इन बातों में हम एक विशिष्ट उपदेश निहित पाते हैं। वे कहते हैं कि यदि अन्तःकरण में उपलब्धि न हो, तो बातों का कोई मूल्य नहीं, वे केवल बात की बात रह जाती हैं।

इसलिए कह रहे हैं, "तुम कलकत्तावालों को बस लेक्चर देना ही आता है।" यहाँ पर 'कलकत्तावाले' कहने का अभिप्राय है तत्कालीन अँगरेजी-शिक्षित लोग, जो स्वयं न समझते हुए भी दूसरों को समझाने की चेष्टा करते हैं। जिस विषय में हम कुछ नहीं जानते, उसी के सम्बन्ध में हम और भी जोरों से तर्क करते हैं। धीरे धीरे ज्ञान की गहराई के साथ साथ हम यह समझ पाते हैं कि हमारे ज्ञान का दायरा कितना-सा है।

प्रतिमा-पूजा की प्रयोजनीयता

ठाकुर आगे कह रहे हैं कि यदि मिट्टी की प्रतिमा को भगवान् मानकर पूजना गलत है, तो वे जो इस विश्व-ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं, क्या नहीं जानते कि इस पूजा के लक्ष्य वे ही हैं? भगवान् ने ही भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए उपयोगी होने की दृष्टि से इन विभिन्न प्रकार की पूजाओं को प्रचलित किया है। जिस प्रकार माँ जानती है कि किस बच्चे को कौन-सा खाना उपयोगी होगा, उसी प्रकार भगवान् जानते हैं कि किसके लिए कौन-सा मार्ग ठीक रहेगा। तभी तो अपना चिन्तन करने के लिए उन्होंने स्वयं इन भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियों को जन्म दिया है।

लेकिन इस बात को हम सहज में नहीं समझ सकते,

क्योंकि हम लोगों की भगवान् के सम्बन्ध में कोई धारणा नहीं है। हम लोग अपनी इस बुद्धिहीनता को ढकने के लिए बड़ी-बड़ी दार्शनिक बातों का उच्चारण करके शब्दजाल की सृष्टि करते हैं, जिसके भीतर सार जितना नहीं, उससे अधिक थोथी आवाज होती है। लेकिन ठाकुर के उपदेशों में ऐसी एक भी बात नहीं, जो अस्पष्ट हो, जो समझी न जा सके, जो हमारे किसी काम की न हो।

एक बार ठाकुर के साथ बातचीत करते हुए स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) 'अन्धविश्वास' की बात कह उठे। ठाकुर तुरत बोल उठे, "हाँ रे, विश्वास दो प्रकार का है क्या—कुछ आँखवाला और कुछ अन्धा ?" स्वामीजी निरुत्तर हो गये। ठाकुर आगे बोले, "या तो कह विश्वास, या फिर कह ज्ञान।" स्वामीजी तो प्रखर बुद्धिसम्पन्न थे, फिर भी ठाकुर के सामने उन्होंने पराजय स्वीकार कर ली।

ईश्वर अवाङ्मनसगोचर

ईश्वर के स्वरूप को समझाते हुए हम भी ठीक इसी प्रकार कहते हैं—वह चैतन्यस्वरूप है, वह सच्चिदानन्द-स्वरूप है। यह तो केवल गाल ही बजाना है। यदि कोई प्रश्न करे कि 'सच्चिदानन्द का क्या अर्थ समझते हो ?' तो बहुत हुआ तो हम कह सकते हैं—'सत्-चित्-आनन्द।' लेकिन फिर यदि कोई प्रश्न कर दे, 'सत्-चित्-आनन्द माने क्या ?' तब और आगे नहीं बढ़ पाते।

श्रुति कहती है कि वह मन और वाणी के अगोचर है। अतः यह कहना कि ये शब्द उसे प्रकाशित कर सकते हैं,

प्रगल्भता है, जिसे श्रुति नहीं सह सकती। जो मन और वाणी के अगोचर है, उसे चाहे जो नाम दिया जाय, उससे क्या उसे प्रकाशित किया जा सकता है ? नहीं किया जा सकता। यह बात हम लोग समझ ही नहीं पाते; और जितना ही नहीं समझते, उतना ही तर्क-वितर्क करते हैं। बहुत हुआ तो कह सकते हैं—'सत् माने चिरस्थायी,' लेकिन क्या हमने कोई चिरस्थायी वस्तु देखी है ? नहीं देखी। अब हमने जिसे कभी देखा नहीं, उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में हमें धारणा कैसे होगी ?

दार्शनिक लोग कहते हैं—"सत् माने यह कि वह असत् नहीं है। असत् माने क्या ?—जो अनस्ति है, सत्ताशून्य है। चित् माने क्या ?—वह अप्रकाशित नहीं है। आनन्द माने क्या ?—वह दुःखरूप नहीं है।" शास्त्र भी इसी प्रकार कहते हैं—अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अच्छायम् इत्यादि। लेकिन क्या इस सबके द्वारा वे क्या हैं यह बताना हुआ ?

जब ऋषि याज्ञवल्क्य समझा रहे थे कि ब्रह्म क्या है, तब इसी प्रकार पहेलियों के माध्यम से समझा रहे थे कि वह दूर होकर भी पास है; उसमें गति है और नहीं भी। यह सुनकर एक ऋषि बोले, "इस प्रकार पहेलियाँ बुझाने से नहीं चलेगा। 'यह एक गाय है,' 'यह एक घोड़ा है,' ऐसा कहने से जिस प्रकार वस्तु को स्पष्ट समझा जा सकता है, उसी प्रकार समझाना होगा।" तब याज्ञवल्क्य बोले, "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः"—जो दृष्टि का द्रष्टा है, उसे तुम दर्शनेन्द्रिय के द्वारा जानना मत चाहो;

जो श्रुति का श्रोता है, उसे श्रवणेन्द्रिय के द्वारा तुम जानना मत चाहो।' इसी प्रकार जो मन के पीछे मन्ता है, उसे मन के सहारे जानना मत चाहो। तो फिर उस वस्तु को हम जानेंगे कैसे ? और विडम्बना यह है कि उसे न जानते हुए उस पर ढेरों किताबें लिख डालते हैं !

विद्यासागर महापण्डित होकर भी भगवान् के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कहते थे। कुछ लोगों ने उनसे पूछा, "आपने इतनी विद्या अर्जित की है, लेकिन भगवान् के सम्बन्ध में कहीं पर कुछ कहा क्यों नहीं ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अजी, मुझे चाबुक की मार से डर लगता है।" उनका आशय यह था कि जिस वस्तु को मैं स्वयं नहीं समझता, उसके सम्बन्ध में बोलने से चाबुक खाना पड़ेगा।

लेकिन फिर भी मित्रों ने छोड़ा नहीं। तब जोर-जबरदस्ती करने पर लाचार होकर 'बोधोदय' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसके प्रारम्भ में ही लिख दिया—"ईश्वर निराकार है, चैतन्यस्वरूप है।" अव इस निराकार, चैतन्यस्वरूप ईश्वर की बात लिखकर उन्होंने छात्रों का क्या उपकार किया, यह तो नहीं जानता, पर शिक्षकों को एकदम हतप्रभ कर दिया।

विभिन्न उपासना-पद्धतियाँ और उपासक

उपलब्धि न होने से बात केवल कुछ शब्दों की सृष्टि करती है, जिसका परिणाम होता है चित्तविभ्रम। इसके बाद ठाकुर कह रहे हैं कि भगवान् ने ही इन विचित्र प्रकार की उपासना-पद्धतियों को रचा है—"उन्होंने ही किया है, तब तुम खुदा पर खुदाई करने क्यों जाते हो ?

आवश्यकता होने पर वे समझा देंगे।" अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "बच्चा पिता को पुकार रहा है। किस ढंग से पुकारना चाहिए यह शायद वह ठीक से नहीं जानता। तो क्या उसके पुकारने पर पिता ध्यान नहीं देते ? क्या पिता यह नहीं समझते कि बच्चा उन्हें ही पुकार रहा है ? भगवान् क्या नहीं जानते कि मिट्टी की मूर्ति के माध्यम से लोग उनकी ही पूजा कर रहे हैं ?

भागवत में तीन प्रकार की आराधना की बात कही गयी है। एक है प्रारम्भिक, जो साधारण मनुष्य पहले-पहल करता है। इस साधना को करते-करते वह दूसरे सोपान में कुछ उच्चतर अवस्था में आ पहुँचता है, और तीसरी अवस्था में वह चरम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। इन तीनों स्तरों को भागवत में क्रमशः प्रवर्तक, मध्यम और उत्ताम कहा गया है। लेकिन किसी को भी अधम नहीं कहा गया। प्रवर्तक भक्त कैसा होता है ?—

अर्चायाम् एव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥११।२।४७

—भगवान् की पूजा केवल अर्चा अर्थात् विग्रह में ही करता है; एक मूर्ति रख लेता है और उस मूर्ति का बड़े श्रद्धाभाव से श्रृंगार करता है, उसे भोग लगाता है। यह सब वह अत्यन्त श्रद्धाभाव से करता है। ऐसे भक्तों को प्राकृत या प्रवर्तक भक्त कहते हैं। प्राकृत कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रकृति के प्रभाव से अर्थात् अज्ञान से मुक्त नहीं है। पर हाँ, यह कहना भी कठिन है कि मुक्त कौन है।

दूसरे सोपान में कहा गया—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।।११।२।४६

—इस प्रकार के भक्त का भगवान् से प्रेमभाव होता है, भगवान् के अधीन भक्तों के साथ उसकी मित्रता होती है, भगवान् के सम्बन्ध में जो अज्ञ हैं उनके प्रति उसकी कृपा होती है और जो भगवद्विद्वेषी हैं उनके विद्वेषभाव के प्रति उसकी उपेक्षा होती है। इस मध्यम भक्त के लिए कोई हेय नहीं है, कोई अवज्ञा का पात्र नहीं है। सबके साथ उसका इस प्रकार सम्बन्ध होता है कि वह सबकी सहायता करना चाहता है। वह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। श्लोक में जो उपेक्षा की बात कही गयी है, वह विद्वेषी के विद्वेषभाव के प्रति है, व्यक्ति के प्रति नहीं।

तब फिर श्रेष्ठ भक्त कौन है ?—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।११।२।४५

—भगवान् की एक मूर्ति को लेकर जो पूजा आरम्भ हुई थी, वही दृष्टि धीरे-धीरे प्रसारित हो भक्तों में और बाद में सर्वभूतों में जाती है—उस दृष्टि से कोई भी अछूता नहीं रह जाता। वह स्वयं के भीतर जिस आत्मा को देखता है, उसी आत्मा को वह सर्वभूतों में देखता है। यहाँ सर्वभूत कहने का तात्पर्य केवल प्राणी ही नहीं, बल्कि वह जड़वस्तु तक को इसी भाव से देखता है।

श्रेष्ठ भक्ति के सम्बन्ध में भागवत में और भी कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतिंषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्-समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥११।२।४१

—वह सर्वत्र भगवान् की सत्ता देखता है, सबको भगवान् का शरीर देखता है। वह देखता है कि जैसे शरीर और शरीरी अभिन्न हैं, उसी प्रकार जगत् और भगवान् भी अभिन्न हैं। यह हुआ श्रेष्ठ भक्त का लक्षण। वह विचार के मार्ग से नहीं, भक्तिमार्ग से जाता है, और जाते-जाते ऐसी जगह पहुँचता है, जहाँ ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं देखता। यह अनन्य भक्त है—'अनन्य' माने वह जिसकी दृष्टि में भगवान् को छोड़कर और कुछ नहीं है। तब वह सर्वत्र प्रणाम करता है। इसलिए उसका व्यवहार भी वैसा ही होगा। इस विग्रह के प्रति उसका जैसा श्रद्धापूर्ण व्यवहार था, जगत् के प्रत्येक अणु-परमाणु के प्रति भी उसका व्यवहार वैसा ही होगा। यह हुआ श्रेष्ठ भक्त का लक्षण।

श्रेष्ठ भक्त के लक्षणों को देखकर यदि हम मूर्तिपूजा को हेय दृष्टि से देखेंगे, तो परिणाम यह होगा कि हम अपनी प्रगति के मार्ग को ही अवरुद्ध कर बैठेंगे और साथ ही दूसरों की प्रगति के लिए भी कोई रास्ता नहीं रखेंगे। सीढ़ी में सबसे नीचे की जो सीढ़ी है, उसमें पैर रखते हुए यदि हमें यह सोचकर संकोच का अनुभव होता हो कि यह तो एकदम नीचे है, तो छत पर पहुँचना क्या हमारे लिए कभी सम्भव होगा ? यह तो बचकानी मनोवृत्ति है। छोटे

बच्चे का ऐसा स्वभाव होता है कि छोटी वस्तुओं से उसे सन्तोष नहीं होता। बड़े भाई के जूते में, पिता के जूते में पैर डालकर चलना उसे अच्छा लगता है। वह नहीं जानता कि इन जूतों को पहनने के लायक वह अभी नहीं हुआ है। हम लोगों का भी ठीक इसी प्रकार बचकाना भाव है। जिसे हम ग्रहण कर सकते हैं और जो हमारे लिए उपयोगी है, उसकी उपेक्षा करके हम ऐसी वस्तु के प्रति आकर्षित होते हैं, जिसे हम पकड़ नहीं पाते। एकदम से छलाँग लगाकर अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता, धीरे-धीरे एक-एक सीढ़ी चढ़कर ही आगे बढ़ना होगा।

प्रतीक और पथ

प्रतीक की सहायता के बिना कोई उस अतीन्द्रिय वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। भले ही वह प्रतीक मिट्टी की मूर्ति के रूप में न हो, पर वह शब्द के या अन्य किसी रूप में होगा। लेकिन शब्द-प्रतीक भी तो आखिर प्रतीक ही है। प्रतीक वस्तु नहीं है, फिर भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रतीक की सहायता से अग्रसर होना पड़ेगा। अतएव जिसे हम निम्न स्तर की उपासना कहते हैं, वह भी वास्तव में उपेक्षा करने योग्य नहीं है, क्योंकि वह उपासना भी कुछ न कुछ लोगों को आगे बढ़ने में सहायता प्रदान करती है।

जब हम स्वयं अपने मार्ग पर नहीं चलना चाहते, तब हमारे पास दूसरों के मार्ग की निन्दा करने का यथेष्ट समय रहता है। और यदि हम अपने पथ के बारे में आस्थावान् हों और हमें उस पथ पर चलने की व्याकुलता

हो, तब हमारे पास दूसरे के पथ की ओर देखकर उसकी आलोचना करने का समय नहीं रह जाता; क्योंकि तब हमारा समग्र मन यही सोचने में केन्द्रित हो जाता है कि मैं किस प्रकार अपने पथ पर आगे बढ़ूँगा। ठाकुर कह रहे हैं, "क्या तुमने सब मार्गों की परीक्षा करके देखा है?" सब मार्ग तो दूर की बात है, जिस पथ को मैंने अपना कहकर ग्रहण किया है, उसे भी तो परीक्षा करके देखा नहीं। हममें से अनेक लोग कहते हैं कि वह सब kinder-garten method है—बालवाड़ी की पद्धति है। हम लोग बड़े हो गये हैं, इसलिए बच्चों की भाँति खिलौनों में खोये रहने के लिए राजी नहीं हैं। अच्छी बात है! तो क्या लेकर रहने के लिए राजी हैं? हमने गाल बजा दिया—'वे तो नित्य हैं, शुद्ध हैं, इत्यादि।' लेकिन न तो हम यही जानते हैं कि नित्य क्या है और न यही समझते हैं कि शुद्ध कहने का क्या तात्पर्य है।

श्रीरामकृष्ण——विभिन्न धर्म-साधनाएँ और उपलब्धियाँ

यह है साधारण मनुष्य की अवस्था। इसलिए ठाकुर कह रहे हैं, "तुम उस सम्बन्ध में क्यों बोलना चाहते हो? ईश्वर ने भिन्न-भिन्न मनुष्य बनाये हैं और इन विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न पथ बनाया है। हम यदि अपने-अपने मार्ग पर चलते रहें, तो धीरे-धीरे सब समझ सकेंगे। ठाकुर स्वयं अपने अनुभव से इस परीक्षित सत्य को सबसे कहते हैं कि सब मार्गों से चलकर उन तक पहुँचा जा सकता है। वे ही एकमात्र लक्ष्य हैं। यह बात ठाकुर इसलिए नहीं कहते कि शास्त्रों में ऐसा

लिखा है, इसलिए भी नहीं कि उन्होंने वह कहीं से सुन रखी है, अपितु इसलिए कि यह उनके जीवन का अनुभूत सत्य है। 'सर्वासामपां समुद्र एकायनम्'—सब जल की गति जैसे समुद्र की ओर है, वैसे ही समस्त जीवों का आधार वे हैं, उन्हीं में जीव का अधिष्ठान है, उन्हीं में जीव का लय है। यह जैसे प्रत्येक जीव के लिए सत्य है, वैसे ही प्रत्येक धर्मपथ के लिए भी। विभिन्न धर्ममतों का अनुशीलन कर ठाकुर ने यही अनुभव किया कि उनके पथ भिन्न-भिन्न होते हुए भी अन्त में सब एक ही सत्य में पहुँचते हैं।

ठाकुर के सर्वधर्मसमन्वय की यही मूल बात है। किसी ने कहा था, "धर्मों का और क्या समन्वय? धर्म क्या भिन्न-भिन्न है? धर्म तो एक ही है।" यह बात भाषण देते समय तो सुनने में अच्छी लगती है, पर धर्म एक ही है, इस बात का अर्थ क्या है? जो लोग विभिन्न धर्मों का अनुसरण करते हुए चल रहे हैं, उनसे यदि पूछा जाय तो वे कहेंगे, "यह कैसे होगा? तुम्हारा धर्म हमारा धर्म नहीं है; फिर हमारा धर्म भी तुम्हारा धर्म नहीं।"

हम लोगों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है, हमारे पीछे इतिहास भिन्न है; हम लोग शैशवकाल से अलग-अलग ढंग से प्रतिपालित हुए हैं; हमारी बुद्धि भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का अनुसरण करती हुई चलती है—इस भेद को तो हम लोग अस्वीकार नहीं कर सकते। लेकिन यह भेद जो हम सामने देखते हैं, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि हम इन अलग-अलग मार्गों से चलकर इन समस्त

भेदों से अतीत अवस्था में नहीं पहुँच सकेंगे। जैसे एक वृत्त की परिधि से उसके केन्द्र की ओर जाने के लिए विभिन्न त्रिज्या-पथ हैं। इन पथों से होकर जिनकी केन्द्राभिमुखी गति आरम्भ होती है, उनमें एक दूसरे की दूरी पहले बहुत अधिक रहती है। लेकिन जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते जाते हैं, उनके मध्य की दूरी उतनी ही कम होती जाती है। अन्त में जब वे केन्द्र में पहुँच जाते हैं, तब उनके बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता। यह एक उपमा है, हालांकि इस तरह से धर्म को इतना सरल करके नहीं समझाया जा सकता; क्योंकि जिसे मैं केन्द्र कह रहा हूँ, उसके सम्बन्ध में एक की धारणा का दूसरे को कोई ज्ञान नहीं है। हम लोग परस्पर भिन्न दृष्टि से देखते हैं, दूरत्व का अनुभव लेकर चलते हैं, इसलिए पहले हमें इस बात पर विश्वास नहीं होता कि अन्त में एक ही जगह पर पहुँचेंगे। यदि कोई यह बात कहे, तो उस पर हम अविश्वास करते हैं। हाल में हमारे लन्दन-केन्द्र के एक साधु से एक मनीषी लेखक ने कहा था—"यह जो कहा जाता है कि रामकृष्णदेव ने ईसाई मत की साधना की थी या कि इसलाम मत को अंगीकार करके चले थे, वह उनकी व्यक्तिगत कल्पना है।" अर्थात् प्रश्न यह होता है कि जो परम्पराएँ (traditions) उन मतों की रही हैं, क्या रामकृष्णदेव ने उन सबको स्वीकारा था? अब इन परम्पराओं में कुछ तो होती हैं मुख्य और कुछ गौण अर्थात् उसके डाल-पत्ते।

अतः जब यह कहते हैं कि ठाकुर ने ईसाई मत की साधना की थी, तब यह प्रश्न अप्रासंगिक है कि वे पूरी

तरह से ईसाई मत में दीक्षित (baptised) हुए थे या नहीं, अथवा उन्होंने उस मौलिक पाप (Original Sin) पर विश्वास किया था या नहीं। यहाँ तो यही देखना पर्याप्त होगा कि डाल-पत्ते में न जा वे उनकी मुख्य बातों को लेकर अग्रसर हुए थे या नहीं। इस प्रसंग में एक बात याद आती है। एक आस्ट्रेलियावासी व्यक्ति साधु होकर बेलुड़ मठ में नये-नये आये थे। मेरे साथ उनकी बड़ी घनिष्ठता हो गयी थी। एक दिन यह दिखाने के लिए कि उन्होंने हाथ से खाना सीख लिया है, वे थाली लेकर मेरे सामने आये और थोड़ासा खाकर दिखाने के बाद थाली उठाकर चले गये। एक अन्य व्यक्ति जो मेरे पास बैठे थे, बोले, "तुमने उससे कहा नहीं कि यह स्थान जूठा हो गया ?" मैंने कहा, "देखिए, यह तो हो गया, लेकिन वह तो यह बात समझेगा नहीं; क्योंकि इस सम्बन्ध में उसके भीतर कोई संस्कार ही नहीं है।" इस पर वे बोले, "भले ही न हो। फिर भी जब वह हिन्दू-पद्धति से साधना कर रहा है, तो यह बात उसे समझा देना उचित था।" उत्तर में मैंने कहा था, "यदि यही हिन्दुत्व है, तो इस तरह का हिन्दुत्व न होने से भी उसका काम चल जायगा।" तात्पर्य यह कि हम कई बार गौण वस्तु को मुख्य बनाकर धर्म का उपहास करते हैं। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने कहा है, "यही सोचते हुए हमारे दिन बीत गये कि पानी के गिलास को दाहिने हाथ से उठाएँ कि बाँयें हाथ से।" इस बात को हम प्रायः भूल जाते हैं कि यह मुख्य वस्तु नहीं है तथा ईश्वर-लाभ के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतः जब हम कहते हैं कि ठाकुर ने अन्य धर्म-पथों की भी साधना की थी, तब उससे हम यही समझते हैं कि उन्होंने उन धर्मों की मुख्य पद्धति का अनुसरण किया था। हम उनकी बातों से, उनके आचरण और उनके स्वभाव से यह बात कह सकते हैं।

उन्होंने जब जिसे ग्रहण किया, उसका जहाँ तक सम्भव हुआ बड़ी बारीकी से अनुसरण किया। इस बारीकी से अनुसरण करने में एक सार्थकता है। हम लोग युक्तिवादी बनकर अनेक बातों को गौण कहकर काट-छाँट देना चाहते हैं। जैसा कि हम लोग कहते हैं, अन्न का दाना ही असल है और उसका छिलका गौण, अतः उस छिलके को फेंककर दाने को ले लो। इसके उत्तर में ठाकुर ने हमें सावधान करते हुए कहा है, "छिलके को भी लेना होगा।" यदि छिलके को छोड़ दिया जाय, तो अन्न को बचाकर नहीं रखा जा सकता। चावल को बोने से पौधा नहीं होता, अतः धान ही बोना पड़ेगा। जो प्रथा है, वह पूरी की पूरी ही व्यर्थ नहीं है; पर इसका यह मतलब भी नहीं है कि हम प्रथा के नाम पर पोंगापन्थी को आश्रय दें। हम देखें कि हम दूसरों को बहुत अधिक विभ्रमित तो नहीं कर देते हैं। हम उसके मूलतत्त्व को कुछ समझा दें और स्वयं उसका अनुसरण करें। तत्पश्चात् धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा। जब हम तत्त्व में पहुँचेंगे, तब यही सत्य स्वयं अनुभव द्वारा समझ सकेंगे। ठाकुर इसी सत्य में विश्वास करते थे। उन्होंने वैज्ञानिकों के समान परीक्षा की हो सो बात नहीं। हम कई बार ठाकुर की परीक्षा को वैज्ञानिक परीक्षा के

समकक्ष घोषित करते हैं। ठाकुर की प्रणाली ठीक वैसी नहीं है। वे तो कहते हैं, "माँ, तुझे अमुक भक्त लोग किस प्रकार देखते हैं, मैं भी देखूँगा।"

वे यह मानकर ही चलते हैं कि अन्य भक्त उनकी माँ को ही देखते हैं। वे उन लोगों की साधना-पद्धति को जानना चाहते हैं, उसका अनुभव करना चाहते हैं। अतः माँ सब व्यवस्था कर देती हैं, सब संयोग जुटा देती हैं। इसके बाद वे अनुभव की भूमि पर दृढ़ प्रतिष्ठित होकर कहते हैं कि सब प्रकार के साधन के द्वारा हम उन्हें ही पाते हैं। 'जितने मत उतने पथ'—यह सत्य उनके जीवन में इसी प्रकार परीक्षित हुआ। प्रश्न हो सकता है कि क्या सभी मतों की परीक्षा करके उन्होंने देखा था? —नहीं, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने सब मतों को परीक्षा करके नहीं देखा। जिसको sample survey (नमूना सर्वेक्षण) कहते हैं, ठाकुर की पद्धति को बहुत कुछ उसी प्रकार का कहा जा सकता है।

उस समय जो मत प्रचलित थे, वह सब उन्होंने देखा था तथा उसके ऊपर थी उनकी लोकोत्तर दृष्टि, जिसके सामने तत्त्व अपने स्वरूप में प्रतिभासित होता था। उसे गवेषणा या विश्लेषण करके निकालना नहीं होता था। उनके शुद्ध मन के सामने से अज्ञान का आवरण हट गया था। उन्होंने देख लिया था कि विभिन्न मनुष्यों का गन्तव्य-स्थल एक है। सब उपायों से उन्होंने यही देखा था कि विभिन्न पथों से चलकर सब उनकी माँ को ही देखते हैं।

वे उन्हें ही माँ कहते हैं, जो जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करती हैं। हम फिर से शब्द को लेकर यह कहते हुए विवाद न करें कि वे काली के उपासक थे या विष्णु के, अद्वैतवादी थे या विशिष्टाद्वैतवादी। वे यह सब तो थे ही, पर इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ थे। स्वामीजी ने एक शब्द में उन्हें 'सर्वधर्मस्वरूपिणे' कहकर प्रणाम किया है। सर्वधर्मस्वरूप ही क्यों, वे तो विभिन्न भावों से ईश्वरोपलब्धि करके तत्स्वरूप ही हो गये थे। धर्म जो था, जो है और जो होगा, वह सभी मानो उनके जीवन में प्रस्फुटित हो उठा था, क्योंकि उसके प्रकाशन की आवश्यकता उपस्थित हुई थी; सब समय सबके सामने वह प्रकाशित नहीं हुआ।

ईसाई ने आकर उनके भीतर ईसामसीह के प्रकाश की उपलब्धि की थी; कहा था—"आप ही ईशू हैं।" इस प्रकार और भी बहुतों ने कहा था। उनके भीतर एक ऐसे तत्त्व का प्रकाश हुआ था, एक ऐसी वस्तु की सृष्टि हुई थी, एक ऐसे दीपक का प्रज्वलन हुआ था, जिसके सहारे चाहे हम जिस दिशा में भी क्यों न देखें, अन्धकार दूर हो जाता है। ठाकुर के धर्मसमन्वय को यदि हम इस भाव से देखें, तो हम उसकी थोड़ी-बहुत धारणा कर सकेंगे।

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (१२)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है। —स०)

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

२३ दिसम्बर, १९२०

आज मठ के कुछ साधुओं के साथ बैठकर वार्तालाप हो रहा है। महाराज बोले—"मन का रोग कैसे अच्छा होता है बतला सकते हो ? मैं खुद उसका उपाय जानता हूँ, दूसरों को भी उसका उपाय बतला दे सकता हूँ; किन्तु अब खुद ही को रोग हो गया है, इसलिए मुश्किल है। एक कहानी सुनो। एक आदमी था। वह सभा-भर लोगों को हँसा सकता था। एक बार उसे ऐसा रोग हुआ कि उसकी सारी हँसी-खुशी कहाँ गायब हो गयी। उसके मन में दिन-रात विषण्ण भाव रहने लगा। वही उसका मुख्य रोग बन बैठा। वह तरह-तरह से डाक्टरों और वैद्यों को दिखाता, पर किसी भी तरह उसका रोग दूर नहीं होता था। आखिर एक डाक्टर ने उसी का नाम लेते हुए उससे कहा, 'तुम अगर अमुक व्यक्ति के पास जा सको, तो तुम्हारा सब रोग अभी ठीक हो जाएगा।' डाक्टर नहीं

जानता था कि वह मरीज को जिसके पास जाने के लिए कह रहा है, वह स्वयं यह मरीज ही है। जो हो, डाक्टर की बात सुन मरीज ने उत्तर दिया, 'हाँ, जा तो सकता हूँ, पर मुश्किल यह है कि मैं खुद ही वह आदमी हूँ।' तब डाक्टर लज्जित हो गया। तात्पर्य यह कि उसकी व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हुआ। मेरी भी अभी यही दशा हो रही है।"

२५ दिसम्बर, १९२०

आज अमेरिका के शान्ति आश्रम की एकान्त-साधना का प्रसंग छिड़ा। अमेरिकन भक्तगण इस साधना को 'स्वयं के साथ वार्तालाप' कहा करते हैं। इससे सभी को विशेष आध्यात्मिक लाभ होता था, और यह बात वे स्वयं भी स्वीकार करते थे। पर एक शर्त थी कि तीन दिन से अधिक कोई उस तरह नहीं रह पाएगा।

महाराज ने कहा—"एक बार एक महिला ने मुझे न बतला यह व्रत लिया। मैं स्वयं भी उस समय इस व्रत का आचरण कर रहा था। मौन रहता था। आश्रम में केवल गुरुदास ही एकमात्र पुरुष था। वही मुझे थोड़ी चाय और टोस्ट दे जाता था। मैंने सात दिन का व्रत लिया था। मुझे जब उस अवस्था में खबर मिली कि मिस 'क' ने मुझे न बतलाकर व्रत लिया है, तब मेरे अन्दर से कोई बोल उठा, 'इससे उसकी विशेष हानि होगी।' तब मेरे मन में बड़ी अशान्ति उत्पन्न हुई। मैं पाँचवें ही दिन व्रत तोड़कर बाहर आया। उज्ज्वला नाम की एक लड़की

उसकी सेवा कर रही थी, उससे सुना कि उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी है—पागल ही बनने जा रही है। तब उसे बुलवा भेजा और खूब धमकाया। वह बोली, 'मेरी मौत ही आ गयी थी। बाहर नहीं आती तो अवश्य मर जाती।' उसे आश्रम से निकाल देने की सोचा, पर बाद में उसके बहुत क्षमा माँगने पर रहने दिया।

"यह महिला बड़ी विदुषी थी। बासठ वर्ष की आयु थी। चौदह वर्ष कई बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण दिये थे, फिर सत्याश्रम (Home of Truth) नामक एक आश्रम स्थापित कर उसे चलाने लगी। पर उसमें 'मैं खूब समझती हूँ' इस प्रकार का बड़ा अभिमान था। शान्ति आश्रम के अधिकांश लोग ऐसे गणमान्य परन्तु पाण्डित्याभिमानी थे। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने चुन-चुनकर ऐसे लोगों को शिक्षा देने का भार मुझ पर सौंपा था। उनमें से प्रत्येक के एक-एक प्रबल व्यक्तित्व था, तथापि किसी के भीतर भावों की ओट में छल नहीं था। वे कहते, 'आप इन भिन्न-भिन्न प्रकृति के हठधर्मी लोगों को कैसे एक साथ रखकर चलाते हैं? हम लोग तो आपकी प्रत्येक करनी और कथनी पर पैनी नजर रखते हैं। पर आपमें इतनीसी भी विषमता नहीं दिखायी पड़ती, आश्चर्य है।'

"ठीक माता के समान स्वभाव होने पर ही संघ चलाया जा सकता है।"

महाराज ने फिर उसी युवक की चर्चा छेड़ी, जो एक आश्रम में भरती हुआ था, पर सुविधा न होने के कारण बाद में घर लौट गया। वे कहने लगे—"ख० के चले जाने

से बड़ा दुःख हुआ। शान्ति आश्रम में भी ऐसी घटनाएँ हुआ करती थीं। समय-समय पर मुझे खूब डाँटना-फटकारना पड़ता था। पर उनमें बड़ी लगन थी, इसलिए वे मेरा कहना मानते और रह जाते थे। ख० बीमारी में ठीक घर की ही तरह सेवा-शुश्रूषा पाना चाहता था। वह नहीं मिली इसीलिए चला गया। पहले-पहल आश्रम में आकर छोकरे बीमार पड़ जाते हैं। उस समय वे घर की बात सोचते हैं। पुराने हो जाने पर ऐसा नहीं होता।

"संघ चलाना हो तो हार्दिक प्रेम आवश्यक है। प्रेम पशु भी समझते हैं, और मनुष्य नहीं समझेगा ? देखा नहीं, मनुष्य यदि किसी जानवर पर प्रेम करे, तो वह जानवर उसका कितना अनुगत बन जाता है।"

२८ दिसम्बर, १९२०

आज महाराज के पास कई साधु बैठे हुए हैं। काँदी से एक वकील भी महाराज के दर्शनार्थ आये हैं। वे अपनी पत्नी के बहनोई के नानाविध दर्शनों का वर्णन कर रहे हैं। उस व्यक्ति को स्वप्न या ध्यानावस्था में इष्टदेवता के दर्शन होते हैं। ऐसी अवस्था में उसे अपनी पत्नी को मातृ-ज्ञान से पूजा करने का आदेश प्राप्त हुआ, पर पत्नी सहमत नहीं थी। महाराज ने कहा, "उसे अपने इष्टदेवता से प्रार्थना करने के लिए कहना, जिससे वे उसके मन को परिवर्तित कर दें।" फिर उस वकील को सम्बोधित कर कहने लगे, "प्रभु का कार्य ठीक चल रहा है। भला हमें उनकी लीला की ऐसी कितनी खबर मिलती है? कितने

ही प्रकार से वे भक्त को आगे बढ़ा दे रहे हैं। पहले-पहल कोई अलौकिक घटना दिखाकर वे भक्त का विश्वास दृढ़ कर देते हैं। वे चाहे जो कराएँ उससे कल्याण ही होता है।"

जनसेवा का विषय उठा। सु० को सम्बोधित करते हुए महाराज कहने लगे, "ईश्वर-बुद्धि से जीवसेवा करना बहुत अच्छी बात है। केवल इसकी चर्चा करने से नहीं होगा, प्रत्यक्ष कार्य भी करना होगा, तभी समय पाकर सर्वभूतों में ईश्वर की उपलब्धि होगी। जो ठाकुर की सन्तानें हैं, उनके लिए योग, भक्ति, ज्ञान, कर्म, सभी चाहिए, अन्यथा समन्वय कहाँ रहा? किसी एक भाव की पुष्टि करना, यह तो पहले भी था। सर्वांगसम्पन्न और उदार चरित्र बनना चाहिए।"

फिर ईश्वर-निर्भरता की बात चली। महाराज बोले, "सभी अवस्थाओं में प्रभु को भार सौंप दे सकने पर निश्चिन्त हुआ जा सकता है। वे जो करना चाहें करें। उन्हें स्वयं के मतानुसार चलाने का प्रयत्न करना मूर्खता है। उनको भार जो दे रखा है तुमने। ऐसी अवस्था में वे हमारी अनुचित प्रार्थना को न सुन, जिसमें हमारा यथार्थ कल्याण हो उसी ओर हमें ले जाएँगे।"

का० की बात उठी। महाराज बोले, "बढ़िया लड़का है।" आश्रम के कुछ युवकों ने अध्यक्ष से बहस कर भोजन बन्द कर दिया था। पर इससे अध्यक्ष विचलित नहीं हुए। अध्यक्ष की इस दृढ़ता की प्रशंसा करते हुए महाराज ने कहा, "मुझे बड़ी खुशी हुई। पहले उसमें लोगों को चलाने

की सामर्थ्य कम थी। बड़ा ही नरम स्वभाव का था। अभी काफी उन्नति की है। छोकरे दल बाँधकर मेरे पास आये। कहा, 'भोजन नहीं हुआ।' उस समय दोपहर के करीब डेढ़ बज रहे थे। मैंने कहा, 'यहाँ, खिचड़ी पकाकर, खाओ। मैं खर्च दूँगा। पर उसके साथ सुलह कर लो।' देखा, एक ही लड़का सब झगड़े की जड़ था। बाकी लड़कों को छेड़कर देखा, किसी की कुछ विशेष शिकायत नहीं थी। खाना बन्द कर दिये जाने से वे बड़ी मुसीबत में पड़ गये थे।"

नी० ने कहा, "जो गँवार होते हैं, वे कायर भी होते हैं।"

महाराज बोले, "स्वामीजी हममें से एक जन को लक्ष्य कर यह बात कितनी ही बार कहते थे। कितनी ही शिक्षाएँ स्वामीजी हमें दे गये हैं।"

नी०—थोड़ा कठोर स्वभाव बनाना चाहिए।

महाराज—कठोर क्यों ? अन्दर खूब प्रेम रहे, पर काम-काज चलाने के लिए बाहर शासन हो, वरना वह अध्यक्ष कैसा ?

नी०— पदाधिकारीगण यदि साधारण तौर पर एक एक प्रशिक्षण की व्यवस्था करते, तो नये अध्यक्षों के लिए सुविधा होती।

महाराज—हाँ, प्रशिक्षण की व्यवस्था तो बिलकुल नहीं है। पर धीरे-धीरे सब हो जायगा। धक्के खाते-खाते सब टेढ़ापन सीधा हो जायगा। कहते हैं न, रंदे के हाथ

पड़ने पर लकड़ी का सब टेढ़ापन चला जाता है। यदि कोई वहाँ पड़ा रह सके, तो प्रभु ही सब ठीक कर देते हैं।

प्रसंगतः ल० की बात निकली। महाराज बोले, "ल० बहक गया। कहता है, अमेरिका जाएगा होमियोपैथी सीखने। अमेरिका तो जा सकेगा, पर चरित्र-बल नहीं है, उन्नति नहीं कर पाएगा। साधु-जीवन और स्वार्थीपना ये दोनों परस्पर-विरोधी हैं।"

रा० ने स्वदेशी और काँग्रेस की चर्चा छेड़ी। महाराज बोले, "नेता कहाँ हैं? एक गाँधीजी को छोड़ मुझे तो योग्य नेता कोई भी नहीं दीख पड़ता। सिरदार सो सरदार। जो समय पर अपना सिर भी दे देने को तैयार रहता है, वही नेता बन सकता है। स्वार्थ लेकर रहने से कोई नेता नहीं बन सकता। एक बार मैंने स्वामीजी से काँग्रेस के सम्बन्ध में उनके हृद्गत भाव पूछे थे। स्वामीजी बोले, 'क्या कर रहे हैं वे लोग? दो-दो कहने से क्या कुछ मिलता है? योग्य बनने पर ही मिलता है।"

स्वयं की व्याधि के प्रसंग में महाराज बोले, "यदि मैं ध्यान कर पाता, तो मेरी सब बीमारी अच्छी हो जाती। मैंने यह कई बार अनुभव किया है। परन्तु इस समय शरीर की दशा जिस प्रकार हो गयी है, उसमें ध्यान कैसे हो?"

आज श्रीमाँ सारदादेवी की जयन्ती है। महाराज

के निकट कई भक्त उपस्थित हुए हैं। कुछ दिन से महाराज एक पैर के अँगूठे का दर्द भोग रहे हैं। सरसों के तेल की मालिश से धीरे धीरे वह प्रायः ठीक हो गया है। इस विषय का उल्लेख कर महाराज कहने लगे, "कोई चीज क्यों होती है और क्यों घटती या बढ़ती है, इसका कोई हिसाब नहीं है। लोग एक फालतू कारण देने की कोशिश करते हैं। वास्तव में सभी में महामाया का हाथ है। मैं यह समझ गया हूँ कि संसार की सभी चीजों के पीछे एक महाशक्ति कार्य कर रही है। वह परम मंगल-मयी है। इससे मनुष्य का मंगल ही होता है। कितने सारे संस्कार कट जाते हैं। मनुष्य के अनेक जन्मों के कर्म होते हैं, उनका फल उन्हें भोगना ही पड़ता है। (प्रणाम करते हुए) इस जीवन में तो कुछ अनर्थ हुआ नहीं, परन्तु कितने अतीत जन्मों के पाप हैं,—यह सब भोगना पड़ रहा है यह उन्हीं का फल है।"

इस सन्दर्भ में किसी ने vicarious atonemen (एक के पाप का किसी दूसरे के द्वारा भोगकर प्रायश्चित्त किया जाना) का विषय छेड़ा। महाराज ने कहा, "हाँ, किसी-किसी का ऐसा भी अनुमान है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के पापों का फल भोग सकता है। इस पर पहले मेरा इतना विश्वास नहीं था, पर अब खूब विश्वास होता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सुख या दुःख को खूब घटा या बढ़ा सकता है। जिसमें जितनी अधिक शक्ति है वह उतनी ही अधिक मात्रा में यह कार्य कर सकता है।"

इस पर एक भक्त ने ठाकुर और माताजी द्वारा दूसरे

क पापों का फल ग्रहण करने की बात का उल्लेख किया। ाहाराज बोले, "हाँ, इसी से तो और भी विश्वास होता है।"

नागपुर कांग्रेस सभा में बंगाल के प्रतिनिधियों के साथ महात्मा गाँधी के समझौते की बात समाचार-पत्रों से पढ़ी गयी। सुनकर महाराज ने कहा, "इस सन्दर्भ में मुझे स्वामीजी की एक बात याद आ रही है। स्वामीजी प्रायः कहा करते थे, 'We agree to differ'—यानी हममें सैकड़ों मतभेद रहने के बावजूद हम लोग एक साथ मिल-जुलकर काम करेंगे।" (समाप्त)

•

एजेण्टों को विशेष सूचना

'विवेक-ज्योति' पत्रिका के ऐजेण्टों के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ हैं :— (अपना पता साफ अक्षरों में लिखें)

(अ) एक अंक की कम से कम १० प्रतियाँ मँगाने पर भेजने का खर्च 'विवेक-ज्योति कार्यालय' वहन करेगा।

(ब) १० से २० प्रतियाँ मँगाने पर कुल मूल्य पर २० प्रतिशत की छूट दी जायगी।

(स) २० से अधिक प्रतियाँ मँगाने पर कुल मूल्य पर २५ प्रतिशत की छूट दी जायगी।

(ड) ५० से अधिक प्रतियाँ मँगाने पर एक विशेष सुविधा यह रहेगी कि जो प्रतियाँ न बिकी रहेंगी पर बिलकुल नयी-सी रहेंगी, उनके बदले नये अंक की उतनी ही प्रतियाँ उन्हें भेज दी जाएँगी। उन पत्रिकाओं को वापस भेजने का डाक-व्यय एजेण्ट का होगा।

विभीषण-शरणागति (७।३)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेका नन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण-शरणागति' प सात प्रवचनों की एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख सातवें प्रवचन की अन्तिम तिहाई है और इसके साथ यह प्रवचन माला पूर्ण होती है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय रायपुर में शिक्षक हैं। —स०)

प्रश्न उठता है कि ईश्वर का अवतार क्यों होता है कर्म का फल देने के लिए ईश्वर को अवतार लेने क आवश्यकता नहीं, क्योंकि कर्म का फल तो अपनी परम्पर से, नैसर्गिक रूप से, हमें प्राप्त होता है। इस विषय प दशरथजी और भगवान् श्री राम में मजेदार विवाद होत है। श्री राम जब वन को जाने लगे, तो महाराज श्र दशरथ ने उन्हें अपने पास बिठा लिया और कहने लगे—

सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं।
रामु चराचर नायक अहहीं ।।२।७६।६

—"आज तक जितने मुनि मुझसे मिले, सबने मुझे यह बताया कि श्री राम ईश्वर हैं।" इस पर प्रभु ने मुसकराक पूछा—"क्या मुनियों की बात पर आपको आज विश्वास

हुआ ?" महाराज दशरथ बोले—"पहले तो मैं दुविधा में था, पर आज निश्चय हो गया कि मुनि लोग गलत कहते थे और मैंने ही ठीक समझा था कि तुम ईश्वर नहीं हो, बल्कि एक साधारण राजकुमार हो।" "ऐसा आपने कैसे समझा ?"—श्री राम ने पूछा। "बात यह है," दशरथ जी बोले, "शास्त्र में ईश्वर के जो लक्षण लिखे हैं, वे तुम पर अनुकूल नहीं बैठते। ईश्वर तो—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी।
ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी ॥२।७६।७

—शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार हृदय में विचारकर फल देता है। तुम यदि ईश्वर होते, तो इसी सिद्धान्त के अनुरूप कार्य करते। पर यहाँ तो—

और करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु ।२।७७

—अपराध कोई करे और उसका फल और कोई भोगे। अपराध तो मैंने और कैकेयी ने किया, और दण्ड तुम्हें भोगना पड़ रहा है। तुम यदि ईश्वर होते, तो कम से कम अपने घर में तो अपना ईश्वरत्व दिखलाते। इससे लगता है कि तुम ईश्वर नहीं हो।"

तो, प्रश्न यह है कि ईश्वर को अवतरित होने की क्या आवश्यकता ? जो ईश्वर बिना अवतार लिये ही लोगों को कर्मफल दे रहा है, उसके अवतार लेने की क्या आवश्यकता ? और यदि उसे अवतार लेकर कर्मफल ही देना है, तो अवतार की क्या विशेषता ? ईश्वर के अवतरण का मतलब है उसका निर्गुण से सगुण होना। निर्गुण

ईश्वर न्यायाधीश के समान कर्मफल का विधान कर सकता है, पर जब वह सगुण होता है तो उसका रूप एक वात्सल्यमयी माँ का, एक करुणामय चिकित्सक का होता है। जीवों को अपने वात्सल्य-रस का, अपनी कृपा का पान कराने के लिए ही ईश्वर अवतार-धारण करता है। 'नारद-मोह' के प्रसंग में हमें इसका सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है।

नारद को भगवान् ने बन्दर की आकृति दे दी और स्वयंवर में विश्वमोहिनी की माला अपने गले में डलवा ली। नारद क्रोध से कांपते हुए उन्हें शाप देने जा रहे थे कि 'बीचहिं पंथ मिले दनुजारी' (१।१३५।४)—भगवान् उन्हें बीच रास्ते में ही मिल गये। उनके साथ उनकी दोनों पत्नियाँ थीं—'संग रमा सोइ राजकुमारी'—रमा और वही राजकुमारी। प्रभु हाथ जोड़कर मीठी वाणी में नारदजी से बोले—'मुनि कहँ चले बिकल की नाईं' (१।१३५।५) —मुनिजी, आप बड़े व्याकुल की तरह कहाँ जा रहे हैं? नारद को बड़ा क्रोध आया, उन्होंने रोष में आ भगवान् को फटकारना प्रारम्भ किया—

पर संपदा सकहु नहिं देखी।
तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु।
सुरन्ह प्रेरि बिष पान करायहु॥१।१३५।७-८

असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु॥१।१३६

—'तुम दूसरों की सम्पदा नहीं देख सकते, तुम्हारे ईर्ष्या और कपट बहुत है। समुद्र मथते समय तुमने शिवजी को बावला बना दिया और देवताओं को प्रेरित करके उन्हें विषपान कराया। असुरों को मदिरा और शिवजी को विष देकर तुमने स्वयं लक्ष्मी और सुन्दर कौस्तुभ मणि ले ली। तुम बड़े धोखेबाज और मतलबी हो। सदा कपट का व्यवहार करते हो।' नारदजी ने यह कह फिर भगवान् पर आरोप लगाया—

> परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
> भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई ॥१।१३६।१

—संसार के लिए तो तुमने कर्म की व्यवस्था बना दी कि जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा, पर अपने को बचाकर रखा है। तुम परम स्वतन्त्र हो, सिर पर तो कोई है नहीं, इससे जब जो मन को भाता है, वही करते हो। तुम्हें भी अपने किये का फल मिलना चाहिए। मैं समझ गया कि आज मैं इसीलिए मिला हूँ—

> भले भवन अब बापन दीन्हा।
> पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥१।१३६।५

—अबकी तुमने अच्छे घर बैना दिया है—मेरे-जैसे जबर्दस्त आदमी से छेड़खानी की है। अतः अपने किये का फल अवश्य पाओगे। तुम सबको कर्म का फल देते रहते हो, अब तुमको कर्म का फल हम देंगे।

भगवान् बोले—दीजिए; कीजिए न्याय। और नारद न्याय करने लगे। यदि हम इस प्रसंग को ध्यान से देखें तो

पाएँगे कि अपराध तो नारद ने किया। अब यदि भगवान् एक शुद्ध न्यायाधीश की तरह इस पर विचार करें तो नारदजी को कठोर दण्ड मिलना चाहिए, क्योंकि नारदजी भगवान् पर जो जो आरोप लगा रहे हैं, वे भगवान् पर न लग स्वयं नारदजी पर लगते हैं। नारदजी कहते हैं—'पर संपदा सकहु नहिं देखी'—तुमसे दूसरे की सम्पत्ति देखी नहीं जाती। नारदजी को लगता है कि विश्वमोहिनी मेरी पत्नी होनेवाली थी और भगवान् ने उससे जबर्दस्ती विवाह कर लिया! अब यह सोचने की बात है कि विश्वमोहिनी भगवान् की प्रिया हैं या नारदजी की? सच बात तो यह है कि यह आरोप भगवान् को नारद पर लगाना था कि तुमने मेरी प्रिया पर दृष्टि डाली, तुमने मेरी माया को अपने वश में करना चाहा। नारद तो वैसा ही आचरण कर रहे हैं, जैसा वह व्यक्ति, जो सपने में देखता है कि उसे इनाम मिला है, और सुबह उठकर जब अखबार में पढ़ता है कि वह इनाम तो किसी दूसरे आदमी को मिला है, तो वह उससे जाकर झगड़ने लगता है कि इनाम तो सपने में मुझे मिला था, तुमने कैसे ले लिया?

नारद भगवान् पर दूसरा आरोप लगाते हैं—'तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी'—तुम बड़े ईर्ष्यालु और कपटी हो। अब ईर्ष्यालु कौन हैं—नारद या भगवान्? वास्तव में ईर्ष्या तो नारद के मन में है, क्योंकि कामदेव को हराकर वे शंकरजी से अपनी तुलना करने लगे थे। फिर, नारद भगवान् को कपटी कहते हैं। पर कपट नारदजी में ही

दिखायी देता है, भगवान् में नहीं। नारदजी भगवान् से उनकी सुन्दरता माँगकर अपना विवाह रचाना चाहते हैं। यदि भगवान् ने नारद को अपनी सुन्दरता दे दी होती और विश्वमोहिनी ने उनके गले में जयमाला डाल दी होती, तो क्या वह नारदजी का कपट न होता? बल्कि वह तो कपट की पराकाष्ठा होती। यदि विश्वमोहिनी नारद का वरण नारद की आकृति को देखकर करती, केवल तभी वह नारद की प्राप्ति होती। तो, सारा दोष तो नारद का है, पर वे भगवान् पर दोषारोपण किये जा रहे हैं और कहते हैं कि तुम्हें किसी ने दण्ड नहीं दिया, पर मैं दूँगा। और नारद उन्हें श्राप देते हैं—उनकी एक-एक क्रिया के लिए एक-एक दण्ड की घोषणा करते हैं—

> **बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा।**
> **सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥**
>
> **कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।**
> **करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥**
>
> **मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी।**
> **नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी॥१।१३६।६-८**

—'तुमने जिस शरीर को धारण करके मुझे ठगा है, तुम भी वही शरीर धारण करो, यह मेरा शाप है। तुमने हमारा रूप बन्दर का-सा बना दिया था, इससे बन्दर ही तुम्हारी सहायता करेंगे। मैं जिस स्त्री को चाहता था, उससे मेरा वियोग कराकर तुमने मेरा बड़ा अहित किया

है, इससे तुम भी स्त्री के वियोग में दुःखी होगे।' श्राप सुनकर प्रभु ने उसे सिर पर धारण कर लिया—**'श्राप सीस धरि'** (१।१३७)। प्रभु ने मानो नारद को संकेत से बता दिया कि मुनिवर, अब आप आरोप न लगाइएगा कि मैं परम स्वतंत्र हूँ और मेरे सिर पर कोई नहीं है, आज से आपका शाप मेरे सिर पर रहेगा !

तो, यह भगवान् के अवतार की, उनकी लीला की भूमिका है। वे जीव के आँसू अपनी आँखों में लेने के लिए अवतरित होते हैं। कर्मसिद्धान्त अपने स्थान पर ठीक है, पर कृपा के सिद्धान्त को कार्य करने से कौन रोक सकता है ? जैसे एक व्यक्ति के कर्म अच्छे हैं, इसलिए उसे सुख मिलता है, उसे पीने के लिए स्वादिष्ट पेय का कटोरा प्राप्त होता है। एक दूसरा व्यक्ति है, उसके कर्म अच्छे नहीं हैं, इसलिए उसे सुख नहीं मिलता, उसे पीने के लिए कटु पेय का कटोरा मिलता है। यहाँ तक तो कर्म का सिद्धान्त ठीक है। पर यदि अच्छा कर्म करने-वाला बुरे कर्म करनेवाले को अपना कटोरा देकर उसका कटोरा स्वयं ले लेता है, तो इस कृपा के सिद्धान्त को कार्य करने से कौन रोकेगा ? अच्छा कर्म करनेवाला कर्मसिद्धान्त में कोई रुकावट नहीं डाल रहा है। हमें अपने कर्म के परिणामस्वरूप जो प्राप्त हुआ है, उसे हम चाहे तो दूसरे को उसके कल्याण के लिए दे सकते हैं। यही ईश्वर के अवतार का दर्शन है। वे दूसरों की भूल अपने सिर पर लेकर जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर आते हैं। नारद की भूल को भगवान् ने अपनी भूल

मान ली और अवतार लेने का संकल्प कर लिया। अतः अवतार में ईश्वर का रूप न्यायाधीश का नहीं होता, अपितु एक वात्सल्यमयी माँ का, करुणामय चिकित्सक का होता है। मनुष्य का जन्म कर्म के परिणामस्वरूप होता है। पर ईश्वर के अवतरण के पीछे यह कर्मसिद्धान्त नहीं होता, अपितु करुणा का, दया का सिद्धान्त होता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

निज इच्छाँ प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि ।४।२६

—ईश्वर अपनी इच्छा से अवतार लेता है, उसके पीछे कर्म की कोई बाध्यता नहीं होती।

अन्त में जब नारद भगवान् को शाप दे चुके, तब प्रभु अपनी माया खींच लेते हैं। वहाँ तब न लक्ष्मीजी रहती हैं, न वह राजकुमारी। नारदजी यह देख अत्यन्त भयभीत हो गये और उन्होंने प्रभु के चरण पकड़ लिये। बोले—**'मृषा होउ मम श्राप कृपाला'** (१।१३७।३)—हे कृपालु, मेरा शाप मिथ्या हो जाय, मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया। भगवान् ने नारद को समझाते हुए कहा—**'मम इच्छा कह दीन दयाला'** (१।१३७।३)—मुनि, तुम शोक न करो, यह सब मेरी ही इच्छा से हुआ है। भगवान् 'मम इच्छा' का एक नया सिद्धान्त हमारे समक्ष रखते हैं। जो लोग कर्मकाण्ड से संत्रस्त हो रहे हैं, उनके जीवन में आशा का संचार करने के लिए प्रभु अपनी इच्छा से मानव-शरीर धारण करते हैं। यह संकेत आपको 'रामचरितमानस' में सर्वत्र प्राप्त होगा। जैसे, भगवान् के द्वारपाल हैं जय और

विजय। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार भगवान् के दर्शन करने भीतर जा रहे हैं कि वे जय और विजय द्वारा रोक दिये जाते हैं। महात्मागण क्रुद्ध होकर उन दोनों को शाप दे देते हैं कि तुम तीन जन्मों तक राक्षस हो जाओ ! इतने में भगवान् वहाँ आते हैं, वे चारों महात्माओं की स्तुति करते हैं और उनसे कहते हैं—आपने अच्छा किया कि इन्हें शाप देकर दण्डित किया। ये राक्षस होंगे तो मैं भी जन्म लूँगा। पर महात्माओं ने भगवान् को जन्म लेने का शाप तो नहीं दिया था, फिर भी भगवान् जन्म लेते हैं। जय और विजय हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण तथा शिशुपाल और दन्तवक्र के रूप में यदि तीन जन्म लेते हैं, तो भगवान् हिरण्याक्ष का वध करने के लिए वाराह, हिरण्यकशिपु का वध करने के लिए नृसिंह, रावण और कुम्भकर्ण का वध करने के लिए राम तथा शिशुपाल और दन्तवक्र का वध करने के लिए कृष्ण के रूपों में चार बार जन्म लेते हैं। और विशेषता यह कि भगवान् हर बार छोटे बनकर आते हैं। जैसे हिरण्याक्ष दैत्य के समय वे शूकर बने; हिरण्यकशिपु नर के समय वे आधा नर और आधा सिंह बनकर आये; रावण यदि ब्राह्मण था, तो भगवान् क्षत्रिय बने; शिशुपाल और दन्तवक्र यदि राजा थे, तो भगवान् बिना राजसत्ता के एक साधारण व्यक्ति के रूप में आये। इस प्रकार भगवान् ने एक नया आदर्श रखा। महात्माओं से जब भगवान् ने कहा था कि मैं भी जन्म लूँगा तो उन्हें यह समझ में नहीं आया था कि भगवान् हमारा पक्ष ले रहे हैं या जय-विजय

का ? वैसे अपराध तो जय-विजय का था। तब भगवान् को दण्ड स्वीकार करने की क्या आवश्यकता थी ? पर भगवान् का तर्क यह था कि जय-विजय का अपराध यही तो है कि वे द्वारपाल हैं—जिन्हें नहीं रोकना चाहिए था उन्हें रोक दिया; अब मैं भी तो प्रत्येक हृदय का द्वारपाल हूँ और मेरे रहते यदि जय-विजय में अहंकार आ गया और मुनियों में क्रोध, तब तो मैं भी द्वारपाल का कार्य ठीक से नहीं कर पाया, अतः मुझे भी दण्ड भोगना चाहिए और इसलिए जन्म लेना चाहिए। ईश्वर के अवतार का यही मूल सिद्धान्त है।

सुग्रीव इस तत्त्व को न समझने के कारण नीति के सिद्धान्त का पक्ष लेते हैं। वे समझते हैं कि दण्ड देकर समाज को सुधारा जा सकता है। पर क्या यह सत्य है ? आपात्काल में कितने नियम थे और कितने दण्ड ? पर क्या व्यक्ति उससे सुधर पाया ? नियमों का कड़ाई से पालन व्यक्ति को कर्म करने में सावधान कर दे सकता है, पर वह उसके अन्तर्मन को परिवर्तित नहीं कर सकता। रामराज्य वह है, जहाँ दण्ड तो है, पर दण्ड के मूल में कृपा है—बदले की भावना नहीं। उसमें दण्ड की अपेक्षा क्षमा और कोमलता का अधिक स्थान है। जब सुग्रीव विभीषण को दण्ड देने की बात कहते हैं, तो उनका तर्क यह है कि विभीषण ने जो कर्म किये हैं, 'उनका फल कौन भोगेगा ? इस पर भगवान् का उत्तर है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ।।५।४३।२

—जीव जैसे ही मेरे सन्मुख होता है, उसके कोटि कोटि जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। यह सुनकर सुग्रीव के मन में विचार उठा—यह तो बड़ा खतरनाक सिद्धान्त है; कोई पाप करे और भगवान् के सन्मुख आ जाय तो उसके सारे पाप नष्ट हो जाएँगे ! इससे तो लोगों को पाप करने की छूट मिलेगी। भगवान् राम सुग्रीव के मन की बात भाँप उत्तर देते हैं—

पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजनु मोर तेहि भाव न काऊ ॥५।४३।३

—डरो मत, सुग्रीव ! जो पापी है, वह कभी मेरे सन्मुख नहीं आएगा। पापी का यह सहज स्वभाव होता है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं सुहाता।

तो, साधना का तात्पर्य यह नहीं कि भगवान् को प्रसन्न करना, अपितु यह कि भगवान् के सन्मुख जाने की अपनी मानसिक स्थिति बनाना। व्यक्ति प्रसन्न तब होता है, जब उसका उपकार होता है। उसका उपकार तभी होता है, जब उसमें कोई कमी होती है और वह दूर की जाती है। जैसे कोई संकट में पड़ जाय और आप उसकी सहायता करें, तब उपकार होगा। अब ईश्वर ऐसा क्या संकटग्रस्त है, जिस पर हम साधना के द्वारा उपकार करेंगे ? उसमें ऐसी कौनसी कमी है, जिसे हम अपनी साधना के द्वारा दूर करेंगे ? ऐसी स्थिति में हमारी साधना केवल अपने आप का निर्माण है, उसका ईश्वर की प्रसन्नता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यदि प्रश्न पूछा जाय कि ईश्वर की कृपा के लिए किसी साधन की आवश्यकता है

या नहीं, तो इसका सैद्धान्तिक उत्तर यही है कि साधना और कृपा का कोई सम्बन्ध नहीं। कारण, साधना के द्वारा जो कुछ प्राप्त होगा, वह असीम तो हो ही नहीं सकता, ससीम ही होगा। जैसे बाजार में हम रुपया लेकर वस्तु खरीदने जायँ, तो जितना रुपया होगा, उतने की वस्तु मिलेगी। उसी प्रकार जब साधन स्वयं ससीम है, तो उसके द्वारा असीम ईश्वर कैसे मिल सकता है? हाँ, उससे स्वर्ग मिल सकता है, ऊँचा पद प्राप्त किया जा सकता है, पर ईश्वर नहीं। अतः साधन का तात्पर्य है अपने को ईश्वर के सन्मुख जाने के लिए तैयार करना और इस प्रकार ईश्वर की जो कृपा पहले से बरस रही है उसे ग्रहण करने योग्य अपने को बनाना। जैसे पानी बरस रहा है और हम अपने घड़े को जल से भरना चाहते हैं। इसके लिए हमें मेघ से प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल औंधा पड़े हुए अपने घड़े को सीधा करने की। मेघ की वर्षा यदि कृपा है, तो घड़े को सीधा करना साधन है। यदि हम घड़े को सीधा न करें तो भी पानी तो बरसता ही रहेगा। हम साधन भी न करें तो कृपा की वर्षा तो होती ही रहेगी। साधन का तात्पर्य यह है कि हम उसके द्वारा उस कृपा को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इसलिए साधन की उपयोगिता है। ऐसा समझकर यदि साधक साधना करे, तो उसमें साधना का अभिमान नहीं आएगा।

हनुमान्‌जी का ही उदाहरण लें। उनके जीवन में कितनी साधना है, फिर भी उन्हें भगवान् की कृपा पर ही

विश्वास है, अपनी साधना पर नहीं। जब वे पहली बार भगवान् राम से मिलते हैं और उन्हें पहचानकर उनके चरणों में गिर पड़ते हैं तब भगवान् उनसे हँसकर कहते हैं—"हनुमान्, ईश्वर के कोई लक्षण तो मुझमें मिले नहीं और तुमने मुझे ईश्वर मान लिया ! याद रखना, आगे चलकर मुझमें ईश्वर के लक्षण न मिलें, तो मुझे दोष न देना। मैंने तो अपनी ओर से सब साफ-साफ बता दिया है कि मैं मनुष्य हूँ, मैंने अपना सच्चा परिचय तुम्हें स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। अब इसके बाद ईश्वर मानना या न मानना तुम्हारा काम ? पर मैं तो यही कहूँगा कि एक मनुष्य को ईश्वर मानने की भूल न करना।" यह सुनकर हनुमान्जी प्रभु के चरणों को और कसकर पकड़ लेते हैं और निवेदन करते हैं–"प्रभो, जैसे आपमें ईश्वर का लक्षण नहीं मिला, फिर भी मैंने आपको ईश्वर मान लिया, वैसे ही यदि मुझमें भक्त के लक्षण न मिलें तो आप भी मुझे अपना भक्त मान लीजिएगा, लक्षण मिलाने न जाइएगा। कारण, आपका लक्षण तो कोई मिला नहीं सकता, और यदि आप लक्षण मिलाने लगे, तब तो कोई पार पा नहीं सकता।" तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर किसी को अपने फीते से नापेगा, तो क्या हाल होगा ? एक दिन बलि अपने पुण्य को नपवाने तैयार हो गया—सोचने लगा कि मैं बड़ा पुण्यात्मा हूँ, दानी हूँ। ईश्वर उसे नापने लगा तो बलि छोटा पड़ गया। जीव कितना भी पुण्य करे, यदि ईश्वर अपने पैर से उसे नापने लगे तो ये पैर इतने लम्बे-चौड़े हैं कि उस बेचारे का पुण्य छोटा ही पड़ जायगा।

जीव तो छोटा ही रहेगा। ऐसी स्थिति में जीव की जो साधना है, वह उसे ईश्वर की ओर उन्मुख करने की साधना है। यदि उसमें ईश्वर-उन्मुखता आ गयी, तो ईश्वर की कृपा उस पर अवश्य होगी।

तो, सुग्रीव जब भगवान् राम को सलाह देते हैं कि विभीषण को बाँधकर रख लिया जाय, तब प्रभु हनुमान्-जी की ओर देखते हैं। हनुमानजी उन्हें स्मरण दिलाते हैं—'**सरनागत बच्छल भगवाना**' (५।४२।६)—प्रभो, आप शरणागत-वत्सल भी तो हैं। सुग्रीव ने ईश्वर की उसकी न्यायपरायणता को याद दिलायी और हनुमान्‌जी शरणागत-वत्सलता की याद दिलाते हैं। जो ईश्वर मात्र न्यायाधीश है, वह अधूरा है और जो मात्र दयालु है, वह भी अधूरा है। ईश्वर वस्तुत: पूर्ण है और उसके सारे गुण भी पूर्ण हैं। अत: उसमें न्यायपरायणता भी पूर्ण है और दयालुता भी पूर्ण है। हनु-मान्‌जी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। 'गीतावली' में आता है कि प्रभु हनुमानजी को ओर हँसकर देखते हैं। उन्होंने लक्ष्य किया कि हनुमान्‌जी कुछ संकट में पड़ गये हैं। हनुमान्‌जी तो सन्त हैं। कोई सन्त ज्ञान का प्रसारक होता है, तो कोई कर्म का। हनुमान्‌जी ऐसे सन्त हैं, जो कृपा के प्रसारक हैं। जब वे लंका में पहली बार विभीषण से मिले थे, तो विभीषणजी उनसे पूछ बैठे थे—क्या प्रभु मुझ पर कृपा करेंगे? हनुमान्‌जी ने उत्तर में कहा था—

कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सब ही बिधि हीना ॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ॥५।७

—'विभीषणजी, भला बताइए, मैं ही कौन बड़ा कुलीन हूँ? जाति का चंचल वानर हूँ और सब प्रकार से नीच हूँ। हमारा नाम ऐसा है कि सुबह-सुबह कोई ले ले, तो दिन-भर उसे भोजन न मिले। हे सखा, सुनिए, मैं ऐसा अधम हूँ, पर प्रभु ने मुझ पर भी कृपा ही की है।' भगवान् के गुणों का स्मरण करके हनुमान्जी के दोनों नेत्रों में जल भर आया।

तो, हनुमान्जी भगवान् की कृपा का प्रचार करते हैं और विभीषणजी को प्रभु के पास आने का निमन्त्रण देकर चले आते हैं। पर आकर उन्होंने प्रभु से इस निमन्त्रण की बात नहीं कही, क्योंकि वे प्रभु के निकट यह नहीं प्रदर्शित करना चाहते थे कि वे उनकी कृपा का प्रचार कर रहे हैं। अब यदि आप किसी को निमन्त्रण देकर चले आएँ और घर में न बताएँ, तब तो अतिथि के समक्ष संकट उत्पन्न हो जायगा। विभीषण के साथ यही हुआ। वे हनुमान्जी का निमंत्रण पाकर प्रभु के पास आये और इधर सुग्रीव कहते हैं कि विभीषण को बाँध लिया जाय। इससे विभीषण तो संकट में हैं ही, हनुमान्जी भी संकट में पड़ गये।

यह देख प्रभु को हँसी आ गयी। हनुमान्‌जी की ओर देखकर मानो संकेत से कहते हैं—यह तो अच्छा निमंत्रण देकर आये! जिसे निमन्त्रण दे आये, उसे तो यहाँ कारागार में डालने की तैयारी चल रही है! गोस्वामीजी 'गीतावली' (सुन्दरकाण्ड) में लिखते हैं—

हिय बिहसि कहत हनुमान सों।
सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषन बूझि परत अनुमान सों ॥३३।१

—प्रभु हृदय में हँसकर हनुमान्‌जी से कहने लगे, 'अनुमान से तो मुझे विभीषण सुमति, साधु, शुद्धचित्त और सुहृद् ही जान पड़ता है।' प्रभु मानो हनुमान्‌जी को संकेत देते हैं कि सुग्रीव तो विभीषण की निन्दा कर रहे हैं, वे कह रहे हैं कि विभीषण भेदिया है, अब तुम तो मेरा समर्थन करो। सुग्रीव ने स्पष्ट शब्दों में श्री राम से कह दिया था—

जानि न जाइ निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया ॥
भेद हमार लेन सठ आवा ।५। ४२।६-७

—'राक्षसों की माया जानी नहीं जाती। यह इच्छानुसार रूप बदलने वाला छली न जाने किस कारण आया है। लगता है, यह मूर्ख हमारा भेद लेने आया है।' इस पर प्रभु हँसते हुए हनुमान्‌जी की ओर देखकर उन्हें मानो याद दिलाते हैं—तुम्हें स्मरण है, हनुमान्! जब तुम पहली बार मुझसे मिले थे, तब तुम भी नकली भेष में भेदिया बनकर ही आये थे। जब उस भेदिये से तुम-जैसा भक्त मिला है, तो लगता है कि इस भेदिये से भी कोई भक्त ही मिलने-

वाला है। प्रभु का तात्पर्य यह है कि सुग्रीव भले ही भेदिये से डरें, पर मैं तो नहीं डरता। मैं तो चाहता हूँ कि कोई हमारा भेद लेने आए। डर उसको हो, जिसके पास कोई भेद हो; पर ईश्वर का जो भेद ले, वह तो उसका भक्त ही बनेगा। तो, बोलो, हनुमान्, तुम विभीषण के बारे में क्या कहते हो ?

हनुमान्‌जी बोले—महाराज, सो तो मैं नहीं जानता।

प्रभु ने कहा—निमन्त्रण दे आये और तुम नहीं जानते ?

हनुमान्‌जी बोले—आप जब हमसे कहलाना ही चाहते हैं, तब तो हम यही कहेंगे कि **'खोटो खरो सभीत पालिए, सो सनेह सनमान सों'** (३३।३)—विभीषण भयभीत हैं और वे अच्छे हों या बुरे, अब उनका स्नेह और आदरपूर्वक पालन कीजिए। महाराज, आप यह क्यों पूछ रहे हैं कि विभीषण कैसे हैं ? औषधालय में यह नहीं पूछा जाता कि तुम अस्वस्थ क्यों हुए ? अब वैद्य यदि रोगी से पूछे कि तुम अस्वस्थ होकर क्यों आये, तो रोगी यही तो कहेगा कि अस्वस्थ हूँ इसीलिए आपके पास आया हूँ; यदि अस्वस्थ न हुआ होता, तो आपके पास क्यों आता ? तो, आप विभीषण के सम्बन्ध में और कुछ न पूछिए; वे जैसे भी हैं। आपकी शरण में आये हैं और आप शरणागत-वत्सल हैं आज आपकी शरणागतवत्सलता की परीक्षा है। और यदि आप कुछ पूछना ही चाहते हैं, तो **'बूझि सरासन-बान सों'** (३३।३)—अपने धनुष-बाण से ही पूछ लीजिए।

यह धनुष-बाण से पूछने का क्या तात्पर्य ? बात यह हुई कि जब हनुमान्‌जी विभीषण के घर गये, तो वहाँ उन्होंने देखा—'रामायुध अंकित गृह' (५।५)—विभीषणजी का महल श्री राम के धनुष-बाण के चिह्नों से अंकित था। इसीलिए वे प्रभु से कहते हैं—महाराज, मैंने तो विभीषणजी को मात्र घण्टे-दो-घण्टे ही देखा है, पर आपके धनुष-बाण तो उन्हें जीवन-भर से देखते आ रहे हैं। अतः उनके सम्बन्ध में पूछना ही हो तो अपने धनुष-बाण से पूछ लीजिए, वे ठीक-ठीक बता सकेंगे।

इसका दूसरा तात्पर्य भी है। वैसे धनुष-बाण तो मारने के लिए होते हैं, पर ईश्वर यदि मारना चाहे, तो उसे धनुष-बाण की क्या आवश्यकता ? वह तो अपने संकल्प से ही किसी को मार सकता है। तब फिर धनुष-बाण किसलिए हैं ?

धनुष बान प्रभु कर निरत दीनहि एकहि छाँह।
टेढ़े सीधे सबहि को हैं हरि हाथ निबाह॥

—धनुष और बाण दोनों को प्रभु के करकमलों की छाया प्राप्त है। एक है सीधा, तो दूसरा टेढ़ा, पर दोनों को ही प्रभु की छत्रछाया मिली है। इससे भक्तों को विश्वास हो गया कि प्रभु सीधा और टेढ़ा दोनों को अपने पास रख सकते हैं। बाण को तो वे अपने से दूर भेज भी देते हैं, पर धनुष को अपने से दूर कभी नहीं भेजते। बाण के बारे में वे जानते हैं कि वह सीधा ही जायगा और वापस लौटकर आ जायगा, पर धनुष के बारे में उन्हें संशय है कि यह टेढ़ा है, पता नहीं लौटकर आये, न आये। इसलिए वे धनुष को

सर्वदा अपने पास रखते हैं। तो, हनुमान्‌जी का तात्पर्य यह है कि महाराज, जब आप धनुष और बाण दोनों को अपने पास रख सकते हैं, तब विभीषणजी को तो रख ही सकते हैं।

पर इसका अर्थ यह नहीं ले लेना चाहिए कि जब प्रभु टेढ़े को सर्वदा अपने पास रखते हैं, तो हम भी टेढ़े बन जायँ। इसका मात्र इतना ही तात्पर्य लेना चाहिए कि टेढ़ा भी प्रभु की शरण में जा सकता है।

जब भगवान् राम ने देखा कि सुग्रीव तब भी विभीषण के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं, तो उन्होंने निर्णय दिया कि सभा की जो राय हो सो किया जाय। तब दो प्रतिनिधि जाकर विभीषण को प्रभु के सामने ले आते हैं। सुग्रीव के प्रतिनिधि हैं अंगद और भगवान राम के प्रतिनिधि हैं हनुमान्। मानो साधना और कृपा के दोनों पक्ष मिलकर एकाकार हो जाते हैं और जीव को भगवान् के पास ले आते हैं। यही शरणागति का रहस्य है। साधना से ईश्वरोन्मुखता आती है और कृपा से ईश्वर-साक्षात्कार होता है। तो, अंगद और हनुमान् विभीषण को लेकर जब प्रभु के पास आते हैं, तब विभीषण को चारों ओर से वानरों ने घेर लिया होता है। अब इस दृश्य की व्याख्या सुग्रीव और भगवान् राम ने अलग-अलग की। सुग्रीव देखते हैं कि विभीषण को एक कैदी की भाँति चारों ओर से घेरकर लाया जा रहा है, जिससे वह भाग न पाए। और प्रभु देखते हैं कि एक भक्त को सम्मान और समादरपूर्वक उनके पास लाया जा रहा है। जैसे किसी बड़े व्यक्ति को लोग चारों

ओर से घेर लेते हैं, वैसे ही विभीषण भी वानरों द्वारा घेर लिये गये हैं—यह प्रभु की दृष्टि है।

जब विभीषण प्रभु के सामने आये, तो उन्होंने अपना परिचय दिया कि प्रभु, न तो मुझमें ज्ञान है, न भक्ति, न कर्म। निशिचर-वंश में जन्म लिया है, अन्धकार में पला हूँ, इसलिए ज्ञान कहाँ से हो? मैं उस व्यक्ति का भाई हूँ, जिसने आपकी प्रिया का, भक्तिदेवी का हरण कर लिया, इसलिए मैं अपने को भक्त भी नहीं कह सकता। फिर—

सहज पापप्रिय तामस देहा।
जथा उलूकहि तम पर नेहा।। ५।४४।८

— मेरा शरीर तामसी है और स्वभाव से ही मुझे पाप प्रिय हैं, जैसे उल्लू को अन्धकार पर सहज स्नेह होता है। मैं सब प्रकार से हीन हूँ।

भगवान् बोले—जो शरण में आता है, उसकी तो परीक्षा ली जाती है। यदि ज्ञानी हो तो उसके ज्ञान की, भक्त हो तो भक्ति की, कर्मी हो तो कर्म की। और तुम कहते हो कि न तो तुममें ज्ञान है, न भक्ति, न कर्म। तब किस बात की तुम्हारी परीक्षा लें?

विभीषण ने कहा—महाराज, परीक्षा तो एक विद्यार्थी की ली जाती है, जो पास होने की अभिलाषा लेकर आया हुआ होता है। मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैं किसी प्रकार योग्य नहीं हूँ।

प्रभु ने पूछा—तब फिर तुम क्यों आये?

विभीषण बोले—मैं परीक्षा देने नहीं, लेने आया हूँ। हनुमान्‌जी ने मुझसे कहा था कि आप बड़े उदार हैं। सो

देखना है कि यह कहाँ तक सत्य है। परीक्षा आपको देनी है, मुझे नहीं। जिसमें कोई योग्यता होती है, उसकी परीक्षा होती है। अयोग्यता की कोई परीक्षा नहीं ली जाती। और मैं तो सब प्रकार से अयोग्य हूँ।

जब भगवान् ने विभीषण के ये दीन वचन सुने, तो उन्होंने अपनी विशाल भुजाओं से पकड़कर विभीषण को हृदय से लगा लिया—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा।
भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा ।।५।४५।२

प्रभु सुग्रीव की ओर देखकर मुसकराये और संकेत से मानो बोले कि मित्र, यह तो तुम्हारी ही आज्ञा का पालन हो रहा है। तुमने इसे बाँधकर रखने को ही तो कहा था, यह तो नहीं कहा था कि इसे मारकर निकाल दीजिए। अब हम बाँधने के लिए रस्सी कहाँ से लाते, इसीलिए अपने भुजपाश में हमने इसे बाँध लिया है। तुमने इसे कारागार में डालने को ही तो कहा था। बाहर के कारागार में डालते तो यह भागने की चेष्टा करता। इसलिए हमने इसे अपने हृदय के कारागार में बन्दी बनाकर डाल दिया है, जहाँ से वह कभी निकलना नहीं चाहेगा !

इस प्रकार जीव और ब्रह्म का मिलन होता है। जीव जब दुर्गुणों को छोड़ देता है और सद्गुणों का भी परित्याग कर देता है—सद्गुण जिस अभिमान की सृष्टि करते हैं, उसका भी त्याग कर देता है, तब वह अधिकारी बनकर भगवान् के पास पहुँचता है। भगवान् उसे कसकर

अपने हृदय से लगा लेते हैं। जो जीव अब तक अपने को अत्यन्त दीन मानता था, उसे 'लंकेश' कहकर पुकारते हैं और उसके आत्मविश्वास को जगा देते हैं। जीव सोचता था कि रावणरूप दुर्गुण बड़ा शक्तिशाली है। भगवान् बता देते हैं कि शक्तिशाली तो जीव है, रावण नहीं— दुर्गुण नहीं। जीव को 'लंकेश' कहकर भगवान् यह भी बताना चाहते हैं कि लंका के स्वामी तुम हो, दुर्गुण नहीं। तुम अपने आपको, अपनी सामर्थ्य को भूल बैठे थे, इसी-लिए दुर्गुण को प्रवृत्तिनगरी लंका का स्वामी मानते थे। तम अपनी क्षमताओं को भूलकर दुर्गुणों को प्रश्रय दे रहे थे।

इस प्रकार प्रभु विभीषण को प्रबोधन देते हैं और उनके सुप्त आत्म-विश्वास को जगा देते हैं। लंका के युद्ध में वे बारम्बार विभीषण से पूछते हैं कि अब कैसे करें? भगवान् मानो उनसे यह कहना चाहते हैं कि विभीषण, तुम्हें भले ही लगे कि रावण को मैं मारूँगा, पर उसके वध का उपाय तो तुम्हीं जानते हो। यह तो तम्हारा मेरे प्रति प्रेम है, जो वह उपाय बताकर तुम मुझे लड़ा रहे हो और इस प्रकार श्रेय मुझे दिलाना चाहते हो। मेघनाद को भी विभीषण स्वयं मार सकते थे, पर उन्होंने उसके वध का उपाय वता दिया और लक्ष्मणजी के द्वारा वह निहत हुआ। यहो नहीं, जब विभीषण को युद्ध-भूमि में देख उस पर अत्यन्त रुष्ट हो रावण शक्ति चलाता है, तो प्रभु विभीषण को पीछे कर वह शक्ति स्वयं सह लेते हैं। फलस्वरूप प्रभु मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। लोग कह

उठते हैं—धन्य हैं, प्रभु, आप धन्य हैं, जो भक्त की विपत्ति अपने ऊपर ले ली। पर भगवान् श्री राम का इसके पीछे तात्पर्य कुछ दूसरा है। वह क्या ? प्रभु को शक्ति लगने से मूर्छित देख विभीषण क्रोधित हो हाथ में गदा लिये रावण की ओर दौड़े। शंकरजी कथा सुनाते हुए पार्वतीजी से कहते हैं—

उमा बिभीषनु रावनहि सन्मुख चितव कि काउ।
सो अब भिरत काल ज्यों श्रीरघुबीर प्रभाउ ॥६।६४

—'हे उमा, विभीषण क्या कभी रावण के सामने आँख उठाकर भी देख सकता था ? परन्तु अब वही काल के समान उससे भिड़ रहा है। यह श्री रघुवीर का ही प्रभाव है।' तात्पर्य यह कि साधक मोह के डर के मारे काँपता रहता है। पर एक बार जब वह ईश्वर का बल पहचान लेता है तो मोह पर गदा लेकर टूट पड़ता है। इस प्रसंग के द्वारा भगवान् श्री राम संसार को यह भी दिखा देते हैं कि देखो, यदि मैंने विभीषण के लिए अपने हृदय में शक्ति सह ली, तो विभीषण भी तो मेरी रक्षा के लिए गदा लेकर दौड़ रहा है। यदि मैंने विभीषण के लिए त्याग किया, तो वह भी तो मेरे लिए त्याग कर रहा है।

और अन्त में जब भगवान राम देखते हैं कि रावण मर ही नहीं रहा है, तब वे विभीषण की ओर देखते हैं—

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा।
राम बिभीषन तन तब देखा ॥६।१०१।२

—मानो पूछना चाहते हों कि मित्र, रावण कैसे मरेगा ? उत्तर में विभीषण कहते हैं—

नाभिकुंड पियूष बस याकें।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें ।।६।१०१।५

—'इसके नाभिकुण्ड में अमृत का निवास है। हे नाथ, रावण उसी के बल पर जीता है।' प्रभु इसके द्वारा यही संकेत देते हैं कि विभीषण, तुम सदा से ही जानते थे कि रावण कैसे मरेगा। तुम उसके गुणों और दोषों को अच्छी तरह जानते थे। पर तुमने सदैव अपने को उससे छोटा समझा, इसीलिए दुर्गुण तुम पर हावी रहे। देखो, तुम्हारी ही बतायी पद्धति से मैंने रावण का वध किया है। और ऐसा कहकर प्रभु जीव की छिपी सामर्थ्य को उद्बुद्ध कर देते हैं।

इस प्रकार विभीषण का यह चरित्र जीव की साधना का चरित्र है। जीव की शरणागति की पूर्णता इसमें है कि उसके जीवन में दुर्गुणों का विनाश हो जाय और सद्गुणों का अहंकार मिट जाय। तब वह प्रभु के नित्य सखा, नित्य परिकर के रूप में रामराज्य के आनन्द का अधिकारी बन जाता है। तो, विभीषण-शरणागति का प्रसंग आज लम्बे समय तक चलाकर पूरा कर दिया गया, क्योंकि आदरणीय स्वामीजो महाराज ने वैसी ही मुझे आज्ञा दी थी और उनके आदेश का मुझे पालन करना था। इस साधनामय आश्रम के पवित्र प्रांगण में जीव के अन्तःकरण में शरणागति की प्रेरणा प्राप्त होती रहे, यही कामना करता हूँ।

(समाप्त)

श्रीरामकृष्ण-महिमा (३)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन बॉयेज़ होम, रहड़ा, पश्चिम बंगाल में कार्यरत हैं। —स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—जिन्होंने रामकृष्णदेव के दर्शन किये, पर उन्हें पहिचान नहीं पाये कि ये भगवान् हैं, तो ऐसी अवस्था में इन दर्शकों को भगवान् का दर्शन हुआ या नहीं?

भक्त—उन्हें भी भगवान् का दर्शन हुआ। मान लो तुम शीतकाल में रात्रि में काश्मीर पहुँचे। तुम परदेशी हो, बसेरे की खोज कर रहे हो, ऐसे समय में शहर में एक कोतवाल से तुम्हारी भेंट हुई और उसने तुरन्त ही तत्परता से एक वासस्थल का ठिकाना बता दिया। जानते हो, कोतवाल कौन है? वह है काश्मीर का राजा, जो कोतवाल के वेश में अपने दो-एक परिचितों को अपने-जैसा सजाकर साथ ले नगर-भ्रमण को निकला है। अब मैं पूछता हूँ, बोलो भला—तुमनें जिसके साथ बातचीत की, जिसने तुम्हें

ठहरने की जगह बतायी, वह व्यक्ति वास्तव में कौन है ? तुम उसे पहचान न पाये इसलिए क्या यह कहेंगे कि वह राजा नहीं है ? वह राजा है, वेश केवल कोतवाल का है। वैसे ही रामकृष्णदेव अखिल जगत् के राजा हैं, वेश केवल रामकृष्ण का है, बस इतना ही। इन्होंने भी अपने पार्षदों को अपने-जैसा मनुष्य सजाकर अपने साथ ले इस धराधाम में प्रवेश किया है। अब तुम विचारकर देखो कि रामकृष्ण-देव के दर्शन से उन लोगों का भगवान्-दर्शन हुआ या नहीं ?

पाठक—यह बड़ी सुन्दर बात है, बड़े आनन्द की बात है। अच्छा, बिना पहिचाने ईश्वर का दर्शन करने से क्या ईश्वर-दर्शन का फल मिलेगा ?

भक्त—एक व्यक्ति चूल्हे के पास सो रहा है। रात के समय नींद के झोंके में यदि उसका हाथ आग में पड़ जाय, तो उसका हाथ जलेगा या नहीं ? यदि अनजाने में आग में हाथ देने से हाथ जल जाता है, तो अनजाने में ईश्वर का दर्शन करने से ईश्वर-दर्शन का लाभ क्यों न होगा ?

पाठक—आपकी बात सुन मेरे हृदय में न जाने कैसा हो रहा है। मुझे लगता है मानो मैं अभी ही रामकृष्णदेव को पहिचान लूँगा। एक बार और कहिए, उन्हें पहिचानने का क्या उपाय है ?

भक्त—मैं तुम्हारा आग्रह देख अच्छी तरह समझ पा रहा हूँ कि तुम पर रामकृष्णदेव की अपार कृपा है। भाई, मैंने अभी ही तुमसे कहा कि भगवान् के अवतार का कोई विशेष लक्षण नहीं है। यदि वे पहिचान करा दें, तभी उन्हें

पहिचाना जा सकता है, नहीं तो उन्हें पहिचानने की सामर्थ्य भला किसमें है ? रामकृष्णदेव के श्रीमुख से सुना है कि जब राम वन को गये, तो उन्हें केवल सात मुनि ही पहिचान पाये थे कि ये वही पूर्ण ब्रह्म सनातन हैं और दूसरे सब यही जानते थे कि वे राजा दशरथ के पुत्र हैं। 'श्रीकृष्णरहस्य' नामक एक प्राचीन संस्कृत नाटक है, उसमें मिलता है कि कौरवों की सभा में श्रीकृष्ण भगवान् हैं या नहीं इस पर बहुत तर्क-वितर्क हुआ था।

पाठक—जब परमहंसदेव ऐसे व्यक्ति हैं, तब लोग बहुतसी विपरीत बातें क्यों करते हैं ? कोई-कोई उन्हें महात्मा कहते हैं, कोई-कोई कहते हैं कि वे साधु हैं, कोई उन्हें सिद्ध कहता है और कोई-कोई तो उनके सम्बन्ध में ऐसी बातें कहते हैं, जो मुँह से बोली नहीं जा सकतीं, कान से सुना नहीं जा सकता।

भक्त—मनुष्य आकार में एक-जैसे होकर भी स्वभाव में विभिन्न प्रकार के होते हैं। जिसको जैसा प्राप्त हुआ है, जिसके भीतर जैसा भाव है, वह वैसी ही बात कहता है। रामकृष्णदेव का एक दृष्टान्त सुनो—एक महापुरुष भाव में विभोर हो संज्ञाहीन होकर एक पत्थर के नीचे पड़े हुए थे कि ऐसे समय में एक साधु ने उन्हें देखकर पहचान लिया कि वे महापुरुष हैं। साधु उनकी चरणरज ग्रहण कर उनकी सेवा करने के लिए उनकी समाधि टूटने की राह देखते हुए किनारे पर बैठ गये। उसके कुछ समय बाद एक शराबी वहाँ पहुँचा और लड़खड़ाते हुए खड़ा होकर एक बार उसने

महापुरुष की ओर देखा और कहा—वाह, भाई ने तो मेरे ही जैसा फलाहार उड़ाया है !

ठाकुर की एक और बात है—जो सूत का व्यवसाय करता है, वह सूत देखकर ही कह दे सकता है कि कौनसा सूत किस नम्बर का है। साधु, साधु को देखकर ही पहचान जाता है।

उनकी और एक उपमा है—जिसने मूली खायी है, जिसके पेट में मूली भरी हुई है, उसके डकार लेने मात्र से मूली की गन्ध निकलेगी; उसी प्रकार जिनके भीतर आकण्ठ केवल काम-कांचन भरा हुआ है, जो संसारी कीड़े हैं, एकदम बद्धजीव हैं, उनके मुँह से अविद्या की बातों के सिवा भला और क्या निकलेगा ? उनकी बात सुनने पर कानों में उँगली डालनी पड़ती है; जहाँ वे रहते हैं, वह स्थान तुरत छोड़ देना पड़ता है। ईश्वर और अविद्यामाया (काम-कांचन) ये दो चीजें हैं। इन दोनों में से जिसकी जैसी इच्छा वह वैसा ग्रहण करता है। नदी जिस प्रकार दोनों पाटों को कायम नहीं रख सकती, उसी प्रकार जीव भी एक साथ दोनों को नहीं पा सकता। या तो अमीरी चाह लो नहीं तो फकीरी, या तो पाँचतला चाह लो अथवा वृक्ष-तला स्वीकार करो। जो हृदय से काम-कांचन चाहते हैं, उनके लिए ईश्वरीय पथ काँटों से भरा है। काम-कांचन का एक नशा होता है, जो आदमी को उन्मत्त बना अपनी देहरी पर जकड़े रखता है, उसे अपना सिर उठाने नहीं देता। जैसे काई जल क़ो ढक लेती है, जैसे बादल चाँद को ओट में छिपा लेता है, वैसे ही माया ईश्वर को छुपा लेती

है। पीलिया के रोगी को जैसे पीला ही पीला दीखता है, उसी प्रकार मायारूपी पीलिया से ग्रस्त होने पर काम-कांचन का रंग छोड़ और कुछ नहीं दीखता।

अविद्यामाया के नशे की एक और महिमा का बखान करता हूँ, सुनो—यह नशा बुद्धि का नाश कर, ज्ञानेन्द्रियों की बलि चढ़ा मनुष्य को एकदम भेड़ बना देता है, उसे जानने नहीं देता कि वह किस प्रकार पूरी तरह दुर्दशा और सर्वनाश को प्राप्त हो गया है। एक बात और,—यदि पागल से अथवा भूत-बाधा से ग्रस्त व्यक्ति से पूछा जाय कि भाई, तुम कैसे हो, तो जैसे वह कहता है—बड़े मजे में हूँ, वैसे ही ये लोग भी कहते हैं—हम बड़े मजे में हैं।

अब तक तुमने जो पूछा था, उसका उत्तर दिया। अच्छी तरह विचारकर देखो, काम-कांचन का नशा दूर नहीं होने से ईश्वर के मार्ग पर बढ़ने का, ईश्वर को प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। इस नशे में चूर व्यक्ति किसी सिद्ध पुरुष का दर्शन होने पर उनके प्रति श्रद्धा दिखाना तो दूर की बात, उनकी कटु निन्दा में ही लगा रहता है। जो घोरतर बद्ध जीव हैं, वे ही परमहंसदेव की निन्दा करते हैं।

पाठक—नशा फिर जाये कैसे?

भक्त—रामकृष्णदेव ने बढ़िया दवाई बता दी है। और उनकी कृपा से वह दवाई भी आजकल सहजता से मिल जाती है। दवाई है—साधु-संग। ठाकुर की उपमा है—यदि कोई भाँग या गाँजे के नशे में बेहोश हो जाय, तो उसको चावल का धोवन पिलाने से जैसे नशा दूर हो जाता

है, वैसे ही जो अविद्या के नशे में चूर हैं, उनके लिए साधु-संग एकदम रामबाण दवा है।

पाठक—काम-कांचन का नशा दूर करने के लिए जिनके स्त्री-बच्चे हैं, नौकरी-कारोबार हैं, उन्हें क्या उनका त्याग करना होगा ?

भक्त—वह क्यों ? रामकृष्णदेव ने संसारियों को काम-कांचन छोड़ने को नहीं कहा, पर काम-कांचन की आसक्ति त्यागने को कहा है। उन्होंने कहा है, काम-कांचन को हृदय में स्थान मत दो। काम-कांचन के ऊपर उतराते रहो। जानते हो कैसे ? जैसे नाव यदि पानी के ऊपर रहे, तो नाव की कोई हानि नहीं होगी, पर यदि पानी नाव के भीतर घुस जाय, तब तो नाव का सर्वनाश ही है। धर्मपत्नी को भगवत्प्राप्ति में सहायक समझो। एक या दो सन्तान होने पर भाई-बहन के समान रहो और दोनों ही हमेशा भगवान् की सेवा करो। कांचन को दाल-रोटी प्राप्त कराने का साधन समझो। यह संसार ईश्वर-प्राप्ति के पथ पर बड़ा सुरक्षित स्थान है। रामकृष्णदेव संसार की तुलना किले से करते थे। जिस प्रकार किले के अन्दर से लड़ाई करने पर दुश्मन की गोलाबारी तथा अस्त्रादि से शरीर का बचाव होता है, भूख-प्यास लगने पर खाने-पीने की व्यवस्था रहती है और फिर दूसरी ओर शत्रु से युद्ध करना भी सम्भव होता है, उसी प्रकार संसार में दाल-रोटी की व्यवस्था होने से समय पर भोजन मिल जाता है, धर्मपत्नी के साथ सहवास में भी कोई दोष नहीं होता और फिर परिवार के आत्मीय-स्वजनों की सेवा भी कष्ट के समय उपलब्ध हो जाती है।

सब छोड़-छाड़कर निकल जाने से ये सब सुविधाएँ नहीं होतीं, पर आवश्यकताएँ सभी बनी रहती हैं।

फिर भी इसमें एक बात है—पहले संसार को समझ लेना चाहिए, तब फिर इसमें प्रवेश करना चाहिए, नहीं तो बड़ी मुश्किल होती है। एक अनाड़ी व्यक्ति का संसार में प्रवेश करना और हाथ में तेल लगाये बिना कटहल काटना एक ही बात है। हाथ में तेल लगाकर कटहल काटने से जैसे उसका दूध हाथ में नहीं चिपकता, उसी प्रकार मन में ज्ञान-भक्ति का लेपन कर संसार में प्रवेश करने से काम-कांचन की आसक्ति की लपेट में नहीं पड़ना पड़ता। पहले ज्ञान-भक्ति का अर्जन करना चाहिए, फिर संसार में प्रवेश।

ठाकुर का उपदेश है—शरीर में हल्दी मली रहने से जैसे जल में मगर का भय नहीं रहता, वैसे ही मन में ज्ञान-भक्ति रहने से संसार का काम-कांचन कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता।

एक और उपमा है—आँख-मिचौनी के खेल में जो दाई (बीरो) को छू लेता है, उसे जिस प्रकार चोर बनने का भय नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर को प्राप्त कर संसार में रहने से फिर चोर नहीं बनना पड़ता।

और एक उपमा है—हाथ से खूँटे को पकड़कर तेजी से उसके चारों ओर घूमने पर भी जैसे गिरने का भय नहीं रहता, वैसे ही भगवान् को पकड़कर यदि कोई संसार में रहे, तो उसके पतन की आशंका नहीं रहती।

इस सम्बन्ध में ठाकुर और एक बात कहते हैं—एक देहाती है, यहाँ कलकत्ता देखने आया है। हाथ में एक झोला और छाता है। झोले में कपड़े-लत्ते हैं और कुछ

राह-खर्च। बड़ा अद्भुत शहर है यह कलकत्ता! वह गाँव-गवई का आदमी, पहली बार यहाँ आया है। जो कुछ भी देखता है, वही उसके लिए एक आश्चर्य की चीज है। मुँह बाये इधर-उधर देखते ही शाम हो गयी। तब कहाँ जाये कहाँ रहे यह सोचते-सोचते वह एक ड्योढ़ी के पास बैठ गया और थोड़ी ही देर में रास्ते की थकावट तथा सोच-विचार में उसे एकाएक नींद आ गयी। एक उचक्के की नजर पड़ी कि यह आदमी तो बड़ा अहमक है—बस, तुरन्त उसका झोला और छत्ता हथियाकर वह चलता बना। जब आदमी की नींद खुली तो देखा—सर्वनाश! ठीक इसी प्रकार जो लोग संसार-शहर में आये हैं, यदि वे पहले से अपने रहने-ठहरने की व्यवस्था न कर घूमते रहे, तो उनकी ऐसी ही दशा होती है।

ठाकुर की एक और बड़ी सुन्दर बात है—किसान लोग बरसात में मछली पकड़ने के लिए मैदान में एक फन्दा रख देते हैं। फन्दे के भीतर पानी का चमकता हुआ रूप देखकर छोटी छोटी मछलियाँ उसके भीतर घुस जाती हैं, पर फिर निकल नहीं पातीं। उसी प्रकार संसार के काम-कांचन की जगमगाहट से मुग्ध हो जो लोग निकलने का रास्ता बिना जाने संसार-फन्दे में घुसते हैं, उनकी छोटी मछली जैसी ही अवस्था होती है।

संसार में बड़ी सावधानी से रहना होता है। काम-कांचन को लेकर खिलवाड़ करना और साँप के साथ खेलना एक ही बात है। गुरुदेव के पास से महामन्त्र अथवा महौषध सीखे बिना काम-कांचन के साथ खेलने से जीवन के

बचने की कोई भी आशा नहीं है।

पाठक—गुरु क्या यह सब बता देते हैं? पर हमारे गुरुदेव ने तो एक मन्त्र के सिवा और कुछ नहीं बताया। और फिर महाशय, गुरु भी क्या कई प्रकार के होते हैं?

भक्त—तुम क्या कहना चाहते हो मैं समझ गया। तुमने जिस गुरु और शिष्य की बात कही, वह कैसी है जानते हो? जैसे अन्धे का हाथ पकड़कर अन्धा चले। इसका परिणाम यही होगा कि दोनों ही गिरेंगे। परन्तु यदि शिष्य ईश्वरानुरागी हो, तो वह अपने अनुराग के बल पर उसी गुरु के भीतर ही वास्तविक गुरु को प्रकट कर सकता है। यहाँ का मत है कि गुरु और हैं और वास्तविक गुरु एक और। वास्तविक गुरु कौन हैं जानते हो?—वे हैं इष्टमूर्ति। कल्पना करो एक पक्षी ने एक अण्डा दिया। कुछ समय उस अण्डे को सेते सेते उसके भीतर से एक बच्चा निकला। यहाँ भी ठीक वही बात है। गुरु ने कान में मन्त्र दिया, उस मन्त्र के भीतर एक इष्ट है। अब उसी मन्त्र को लेकर साधन-भजन, जप-ध्यान आदि करने से उसके भीतर से शावकरूपी इष्टमूर्ति प्रकट होती है। जब इष्ट प्रकट हुए, तब फिर गुरु नहीं रहते। बच्चा निकलने से फिर अण्डा नहीं रहता।

पाठक—यदि गुरु और इष्ट अलग-अलग हैं, तो फिर आप लोग परमहंसदेव को क्या मानते हैं?

भक्त—यहाँ गुरु और इष्ट दोनों एक ही आधार में हैं। जब तक पकड़ में न आकर खेल करते हैं, तब तक गुरु हैं, और जब वे पकड़ में आ जाते हैं, तब इष्ट हैं। वहाँ पर जैसे इष्ट को प्राप्त करने से गुरुरूप नहीं रह जाता, यहाँ

वैसी बात नहीं है, यहाँ इष्ट प्राप्त होने पर भी रामकृष्ण-रूप रहता है।

पाठक—गुरु किन्हें कहते हैं ?

भक्त—गुरु एक हैं, और वे हैं भगवान्। भगवान् को छोड़ गुरुपद का समानार्थी और दूसरा कोई नहीं। पर इन गुरु को प्राप्त करने के लिए मार्ग पर जो सब उपदेशक मिलते हैं, उन्हें उपगुरु कहा जाता है। इन उपगुरुओं में सबके सब मनुष्य ही हों ऐसी बात नहीं, उनमें पशु भी हो सकते हैं, पक्षी भी हो सकते हैं, वृक्ष-लता भी हो सकते हैं और फिर देवी-देवता भी हो सकते हैं। इनसे मार्ग में सम्पर्क होता है और जब गुरु मिल जाते हैं, तब इनसे और अधिक सम्पर्क नहीं रहता। तब केवल गुरु और शिष्य ही रह जाते हैं। उपगुरु से सम्पर्क कितने दिनों तक और कितना रहता है यह तुम्हें एक उपमा देकर बताता हूँ, सुनो—जब किसी वर का सम्बन्ध ठीक होता है, तो जिस गाँव में उसका विवाह होने का है, उस गाँव की कोई दूसरी जाति की स्त्री या पुरुष आकर पहले बातचीत चलाता है। वर उसको देख मन ही मन यह सोचकर उसको सम्मान देता है कि जिस गाँव में मेरा विवाह होगा, इसका घर उसी गाँव में है। उसके बाद देखने-सुनने के लिए दूसरे पड़ोसी लोग आते हैं। तब वर पहले के घटक या घटकी को छोड़ पड़ोसियों को यही सोचकर मन ही मन आदर प्रदान करता है कि जिस घर में उसकी शादी होगी, ये उसके पड़ोसी हैं। उसके बाद जब बात पक्की करने के लिए कन्या के पिता या चाचा अथवा मामा या भाई आदि का

आना होता है, तब वर पड़ोसियों को छोड़ कन्या के पिता, मामा या भाई आदि से परिचित होता है। और विवाह के बाद तो सब छूट जाते हैं, रह जाते हैं केवल वर और वधू। यहाँ भी ठीक वही बात है; गुरु प्राप्त होने पर दूसरा बड़ा और कोई नहीं रह जाता, तब रह जाते हैं केवल गुरु और शिष्य।

रामकृष्णदेव कहते हैं, गुरु घटक हैं। जिस प्रकार नायक-नायिका का मिलन कराने के लिए एक घटक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भगवान् और जीव के मिलन के लिए एक गुरु की आवश्यकता होती है। रामकृष्णदेव वही गुरु हैं। तुमने तो सुना है कि जब वे कृपा करके एक बार स्पर्श कर देते थे, तो उनके स्पर्श मात्र से लोग अपने गुरु को उनके भीतर देख पाते थे। भगवान् न हुए बिना भला किसमें सामर्थ्य है जो भगवान् को मिला दे? वे स्वयं स्पर्श कर शक्ति संचार कर अपने आप को दिखा देते थे।

रामकृष्णदेव कैसे गुरु हैं, संक्षेप में तुम्हें बताता हूँ, सुनो—

रामकृष्णदेव को यदि कोई एक बार ग्रहण करके फिर उन्हें त्याग दे, तो भी वे उसे त्यागते नहीं। वह भले भूल जाय, पर वे नहीं भूलते, वह हिल जाय पर वे नहीं हिलते।

रामकृष्णदेव को यदि कोई एक बार बन्धु कहकर बाँध ले और फिर खोलना चाहे, तो भी वे खोलनेवाले नहीं। रामकृष्णदेव के साथ जिसका एक बार स्पर्श हो गया है, वह क्या फिर से काम-कांचन में आसक्त हो सकता है? वह

मार्ग तो उसके लिए काँटों से भरा है।

रामकृष्णदेव की भावावेश में कही आशामय वाणी है—मैं जिसे पकड़ूँगा, उसे अपना स्वरूप देकर छोड़ूँगा। जब भृंगी कीट तिलचट्टे को पकड़ता है, तो तिलचट्टा उस कीट के वर्ण का हो जाता है।

उनकी भावावेश में कही और एक बात है—मैं नाग साँप हूँ, जिसे एक बार डसूँगा, वह तीन पुकार में ही खत्म हो जायगा।

रामकृष्णदेव जिसके गुरु हैं, उसके लिए और कोई कर्म नहीं। बस, छाती फुलाकर दोनों हाथ उठा प्राण भरकर आनन्द मनाना ही उसका काम है। उसके लिए नाव घाट से बँधी हुई है। वह हमेशा अपनी आँखों के सामने घाट को देख पाता है, नाव को भी देख पाता है और फिर पार उतारनेवाले को भी देख पाता है। वह अपने मन की मौज में जैसा चाहता है, खेलता फिरता है। वह मन में जानता है कि जब इच्छा होगी, तब पार चले जाएँगे। वह संसार में खेलने से नहीं डरता। पहले वह आँखें बन्द करके खेलता था, तब कई बार गिरा था। अब उसने आँखें खुली रखकर खेलना सीखा है। पहले संसार उसके लिए धोखे की टट्टी था, अब संसार मौज की कुटिया बन गया है।

तुम लोगों ने भी तो ऐसा ही कुछ-कुछ समझा है। आँखें खोलकर देखो, रामकृष्णदेव क्या हैं! वे केवल हमारे-तुम्हारे गुरु नहीं हैं, जगद्गुरु हैं। रामकृष्णदेव चन्दामामा हैं—सबके लिए ही समान हैं। (क्रमशः)

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(दो । ४८, डाक-तार नगर, भोपाल)

(१) गौरवं प्राप्यते दानात्

एक बार गुरु गोरखनाथजी ने सोचा कि उन्हें साधना द्वारा जो फल प्राप्त हुआ है, क्यों न उसे किसी योग्य व्यक्ति को दान में दे दिया जाए। और वे योग्य व्यक्ति की तलाश करने लगे। एक बार जब वे वाराणसी पहुँचे, तो उन्हें एक संन्यासी दिखायी दिया, जो अपने दण्ड को गंगा में प्रवाहित कर रहा था। गोरखनाथजी ने उससे कहा, "महात्मन्! मैं आप-जैसे त्यागी पुरुष की ही तलाश कर रहा था। मेरे अहोभाग्य कि मुझे आपके दर्शन हो गये। मैंने अपनी साधना द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, वे मुझे अपने पथ से विमुख न करें, इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं उन्हें आपको अर्पित करूँ। कृपया मेरी इस भेंट को स्वीकार करें।"

संन्यासी ने अपनी अंजलि सामने की और कहा, "मैं आपकी भेंट को स्वीकार कर रहा हूँ।" और फिर उन्होंने अंजलि को नदी के प्रवाह में झोंक दिया। यह देख गोरखनाथजी गद्गद हो उठे और बोले, "महात्मन्! आप सचमुच महान् हैं। जो दान में प्राप्त अलभ्य वस्तुओं को भी जल में अर्पण करे, उससे बढ़कर महान् त्यागी और गौरवशाली कौन हो सकता है?"

(२) प्रभुता कूँ सब चहत हैं

सिक्ख-गुरु हरिकिशनजी जब चोला छोड़ने लगे, तो शिष्यों ने सोचा कि उन्होंने गुरु की जो इतनी सेवा की है, तो क्या वे गद्दी के अधिकारी नहीं हो सकते ? हरिकिशनजी के चोला छोड़ने पर रात को वे सब शिष्य, जिनकी संख्या २१ थी, गद्दी पर बैठकर भजन करने लगे। गुरु तेगबहादुर भी एक कोने में बैठकर चुपचाप भजन करने लगे।

मक्खनशाह नामक एक सौदागर था। उसका जहाज जब तूफान में फँस गया, तो उसने मनौती मानी कि यदि गुरु जहाज को पार लगा देंगे, तो वह उन्हें पाँच सौ मोहरें भेंट करेगा। संयोग से जहाज डूबने से बच गया और मक्खनशाह को उसका सारा माल ज्यों का त्यों मिल गया। मनौती पूरी करने के इरादे से जब वह गद्दी के पास आया, तो उसे वहाँ २२ गुरु दिखायी दिये। उसने सोचा कि इनमें से गुरु को पहचाना नहीं जा सकता, इसलिए उसने सबके सामने पाँच-पाँच मोहरें रख दीं। सबने मोहरों को चुपचाप स्वीकार किया और उसे आशीर्वाद दिया, मगर तेगबहादुर ने कहा, "तूने तो पाँच सौ मोहरों का वादा किया था न ? बाकी मोहरें कहाँ गयीं ? क्या तू समझता है कि तेरा जहाज इतनी आसानी से पानी से निकला है ? जरा मेरे कन्धों की ओर तो देख कि वहाँ कीलों से कितने जखम हुए हैं।" मक्खनशाह ने देखा तो उसे उनके कन्धों पर जहाँ-तहाँ जखम दिखायी दिये। वह जान गया कि यही असली गुरु हैं और वह चिल्ला उठा, "गुरु लाधो रे ! गुरु लाधो रे !"

(गुरु मिल गया ! गुरु मिल गया !) उन २१ शिष्यों को भी जब यह सारी बात मालूम हुई, तो उन्होंने चुपचाप गद्दी खाली कर दी और गुरु तेगबहादुर के चरणों पर गिरकर गुरु के रूप में उन्हें स्वीकार किया।

(३) पषाण गाढ़ि कै मूरति कीनी

सन्त गाड़गे महाराज जब महाराष्ट्र के एक ग्राम में पहुँचे, तो उन्हें वहाँ नदी के किनारे सैकड़ों मन्दिर—शिवालय—दिखायी दिये और यह देख उन्हें मन ही मन हँसी आ गयी।

रात्रि को एक मन्दिर में उनके कीर्तन का आयोजन किया गया, किन्तु उन्हें यह देख दुःख हुआ कि श्रोताओं की उपस्थिति बहुत कम है। दूसरे दिन सुबह जब लोग उनसे मिलने आये, तो उन्होंने कहा, "यहाँ जितने मन्दिर हैं, उतने भी लोग कल के कीर्तन में नहीं आये थे।" यह सुन कुछ लोगों को हँसी आ गयी। तब वे बोले, "हँसते क्यों हो, बाबा ! क्या तुम्हें नदी के किनारे जहाँ-तहाँ मन्दिर ही मन्दिर नहीं दिखायी देते ? मगर क्या उनकी देखभाल ठीक तरह से हो रही है ? कहीं नन्दी का पता नहीं है तो कहीं भगवान् के ही दर्शन दुर्लभ हैं। ऐसे मन्दिर बाँधना न बाँधने जैसा ही है।"

इतने में एक व्यक्ति ने जवाब दिया, "यह सब धर्म-श्रद्धा मिटने का परिणाम है।" तब बाबा बोले, "ठीक-ठीक क्यों नहीं कहता कि भावना नहीं रही ? संस्कृत में काहे को बोलता है ? इन मन्दिरों का निर्माण करनेवालों को

सपना ही आया होता कि मन्दिरों की यह हालत होनेवाली है, तो शायद वे मन्दिर न बाँधते। वह देखो, सामने एक कुत्ता मन्दिर में जा रहा है, क्या वह उसे अपवित्र नहीं करेगा ?" जब एक व्यक्ति ने कुत्ते पर पत्थर फेंकना चाहा, तो बाबा ने उससे कहा, "किसको मार रहे हो ? कुत्ते को ? गुस्सा ही आ रहा है, तो कुत्ते पर क्यों निकाल रहे हो, मन्दिर बनानेवालों पर क्यों नहीं उतारते, जिन्होंने यहाँ इतने ढेर सारे मन्दिर बना रखे हैं। अच्छा तो यही होता कि एक ही मन्दिर बाँधते और मन्दिर का और देवता का ठीक से इन्तजाम करते। मगर ऐसा हो रहा है क्या ? तुकोबाराया ने ठीक ही कहा है—'तीर्थी धोंडा पाणीगा, देव रोकडा सज्जनी' (नदी के किनारे का पत्थर भी सज्जन लोगों के लिए देवता बन जाता है) !"

(४) घट-घट में वह साईं रमता

एक बार सन्त उमर को रास्ते में एक गुलाम बकरियाँ चराते हुए दिखायी दिया। वे उसके पास गये और उन्होंने उससे पूछा, "क्या इनमें से एक बकरी मुझे बेचेगा ?" गुलाम ने जवाब दिया, "माफ करें, ये बकरियाँ मेरी नहीं हैं। इनका मालिक दूसरा है, मैं तो इन्हें केवल चराता हूँ।" तब उमर ने उससे कहा, "अभी तो यहाँ मालिक नहीं है, तू चुपचाप मुझे एक बेच दे। बाद में जब मालिक पूछे, तो कह देना कि बकरी को भेड़िया चुरा ले गया।" चर-वाहे ने उत्तर दिया, "बकरियों का मालिक यहाँ नहीं है तो क्या हुआ ? घट-घट व्यापी मालिक तो देख रहा है,

उससे भला यह बात कैसे छिपी रह सकती है ? मैं आपसे फिर माफी माँगता हूँ कि आप मुझे गलत काम करने को न कहें ।"

उमर ने सुना तो बोले, "तू सचमुच नेकदिल और बड़ा आदमी है। खुदा तुझ-जैसे आदमियों को ही पसन्द करता है।" उन्होंने उस गुलाम के मालिक को मुँहमाँगा दाम देकर उसे मुक्त कराया। फिर यह कहकर विदा किया, "जैसा मैंने तुझे गुलामी से छुड़ाया है, वैसा ही खुदा भी तुझे दोज़ख के दुखदर्द से छुटकारा देकर जन्नत में जगह देगा ।"

(५) जो तू चाहे सुख सदा

एक बार हकीम लुकमान से उनके बेटे ने पूछा, "अगर मालिक ने फरमाया कि कोई चीज़ माँग तो मैं क्या माँगू ?" लुकमान ने जवाब दिया, "परमार्थ का धन ।" बेटे ने फिर पूछा, "अगर दूसरी चीज़ माँगने को कहे तो ?" लुकमान ने कहा, "हलाल की कौड़ी (पसीने की कमाई) माँगना ।" उसने फिर पूछा, "तीसरी चीज़ ?" जवाब मिला, "उदारता ।"

"चौथी ?"—"शरम ।"

"पाँचवीं ?"—"अच्छा स्वभाव ।"

बेटे ने फिर पूछा, "और कुछ माँगने कहे तो ?" लुकमान ने जवाब दिया, "बेटा, जिसको ये पाँच चीज़ें मिल गयीं, उसके लिए और माँगने के लिए कुछ भी नहीं बचेगा। तेरी खुशहाली का यही रास्ता है और तुझे इसी रास्ते से जाना चाहिए ।" ●

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—

स्वामी अद्भुतानन्द

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके फरवरी, १९७८ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

अनेक असाधारणताओं एवं अलौकिकताओं से भरे श्रीरामकृष्णरूपी चमत्कार[1] में सर्वाधिक आश्चर्यजनक घटना थी गड़रिया बालक राखतूराम का एक असाधारण सन्त स्वामी अद्भुतानन्द में परिवर्तन। इस परिवर्तन को सही में उन्नीसवीं शताब्दी के देव-मानव श्रीरामकृष्ण का

---

१ क्रिस्टोफर ईशरवुड ने अपनी अँगरेजी पुस्तक 'Ramakrishna and His Disciples' (मायावती, अद्वैत आश्रम, १९६५, पृ० १) में श्रीरामकृष्ण के जीवन और साधनाओं को phenomenon अर्थात एक चमत्कार के रूप में चित्रित किया है।

'सबसे बड़ा चमत्कार'[२] कहा गया है। श्रीरामकृष्ण के पास आनेवाले त्यागी शिष्यों में राखतूराम सबसे पहले थे। फिर, उनके पार्षदों में वे ही एकमात्र ऐसे थे, जिनमें किताबी ज्ञान का नितान्त अभाव था। श्रीरामकृष्ण तो थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ लेते थे, पर राखतूराम तो एकदम निरक्षर भट्टाचार्य थे। एक बार श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बँगला वर्णमाला सिखानी चाही थी, पर वह प्रयास सफल न हो सका।

राखतूराम के बचपन के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा ही ज्ञात है, क्योंकि वे अपने बारे में कुछ बतलाने में हमेशा सकुचाते थे। बिहार के छपरा जिले के एक गाँव में अत्यन्त सामान्य परिवार में उनका जन्म हुआ था। बचपन में चेचक के द्वारा भयानक रूप से आक्रान्त होने पर, उनके बचने के कोई आसार न देख, उनकी माता ने भगवान श्रीराम से उनके जीवन के लिए प्रार्थना की। फलस्वरूप बड़े ही आश्चर्यजनक रूप से बालक धीरे-धीरे उस मरणासन्न अवस्था से उबर गया। माता-पिता ने इसे प्रभु की कृपा मान बच्चे का नाम रख दिया—राखतूराम (राम के

---

२. स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, "लाटू श्रीरामकृष्ण का सबसे बड़ा चमत्कार है। बिलकुल अपढ़ होने पर भी ठाकुर के स्पर्श से उसने सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर लिया है।" 'Apostles of Sri Ramakrishna' (मायावती, अद्वैत आश्रम, १९६७, पृ० २७१)।

द्वारा रक्षित)। गड़रिये की सन्तान होने की वजह से किशोरावस्था आने पर उसे भेड़ों को चराना पड़ता। अपने कैशोर्य के अनुभवों की याद कर बाद में उन्होंने कहा था, "तुम लोगों को मालूम ही है बचपन में मैं अपने दिन गड़रियों के बच्चों के साथ बिताता था। वे लोग सच में बड़े निष्कपट थे। जब तक कोई उन-जैसा निष्कपट नहीं हो जाता, तब तक सच्चा आनन्द कहाँ मिल सकता है ?"[३] किशोरावस्था में मानो पग-पग पर दरिद्रता, दयनीयता और परिजनों के बिछोह के दुःख ने उनका पीछा किया। पाँच वर्ष भी पूरे न हुए थे कि माँ-बाप चल बसे। ऐसी निराशापूर्ण परिस्थितियों में बालक राखतूराम के भीतर की आध्यात्मिक सम्भावनाओं का प्रस्फुटन हुआ। प्रकृति के साथ सामीप्य की भावना ने उसे ईश्वर की महत्ता समझने में सहायता दी। अपने एकान्त के क्षणों में वह गाया करता, 'मनुवा रे, सीताराम भजन कर लीजै।' अनाथ बालक की देखरेख उसके उदार चाचा ने की। चाचा अपने खर्चीले स्वभाव के कारण अन्त में सब लुटाकर कलकत्ता में नौकरी के लिए आ गये। राखतूराम का भी उनके साथ आना स्वाभाविक ही था।

ग्रामीण परिवेश का छूट जाना राखतूराम के लिए एक आघात-जैसा था और शहरी जीवन के साथ मेल करने में

३. चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय: 'श्री श्री लाटूमहाराजेर स्मृतिकथा' (बँगला), कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय, दूसरा संस्करण, पृ० ५१।

उसे काफी समय लगा। कुछ प्रयास के बाद चाचा ने अपने गाँव के ही एक व्यक्ति फूलचन्द को ढूँढ़ निकाला, जो कलकत्ता मेडिकल कालेज के सहायक केमिस्ट रामचन्द्र दत्त का चपरासी था। फूलचन्द ने प्रयास कर राखतूराम को कालेज चौक[४] में स्थित दत्ता स्टेशनरी दुकान में नौकरी दिला दी। कुछ दिनों बाद दुकान के बन्द हो जाने पर राखतूराम को रामचन्द्र दत्त ने अपने घर के काम के लिए लगा लिया। घर[५] में सबके द्वारा स्नेह से लालटू पुकारा जानेवाला मेहनती, सरल और वफादार राखतूराम शीघ्र ही अपनी पैनी समझ के कारण शहरी रंग-ढंग से परिचित हो गया। यद्यपि वह सीधा और सरल था, पर नैतिक बल और आस्था ने उसे पर्याप्त शक्ति दी थी, जिससे विपरीत परिस्थितियों में भी वह खड़ा रह सके। यद्यपि वह परिवार के लोगों के विभिन्न कामों में व्यस्त रहता, तथापि अपने फुरसत के समय का सदुपयोग कुश्ती सीखने और व्यायाम करने में करता।

श्रीरामकृष्ण के भक्त होने के कारण रामचन्द्र दत्त का मकान आध्यात्मिकता से परिपूर्ण था तथा वहाँ यदा-कदा ईश्वर-चर्चा होती रहती। एक बार लालटू ने रामचन्द्र को कहते सुना, "भगवान् मनुष्य का मन देखते हैं। वे

---

४. उद्‌बोधन (बँगला मासिक), कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय, श्रावण, बंगाब्द १३।३१, पृ० ४०३।

५. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्णभक्तमालिका', भा० १, रामकृष्ण मठ, नागपुर, १९७०, पृ० ४७७।

संसार में मनुष्य के ऊँचे पद, स्थान या उपलब्धियों को नहीं देखते।" एक दूसरे समय उन्हें कहते सुना, "जो भगवान् को मन से चाहता है, वह उन्हें निश्चित ही पाएगा। उसे एकान्त में जाकर उनके लिए रोना और प्रार्थना करनी चाहिए।"[६] ये बातें लालटू के अन्तस्तल में गहराई तक भिद गयीं और उसने इन्हें न सिर्फ सारे जीवन याद रखा, पर उन बातों ने उसमें एक स्पष्ट परिवर्तन ला दिया। ऐसा लगता है कि उसकी पैनी समझ ने उसे अपने लिए मार्ग चुनने में सहायता दी। उसके पश्चात् से कई बार लालटू को कम्बल ओढ़े लेटे हुए तथा प्रायः आँखों से आँसू पोंछते हुए देखा जाता। कोई उसे ठीक से समझ न सका। घर की महिलाएँ यह समझकर कि वह अपने घर या परिवार की याद करके कातर हो रहा है, उसके प्रति सहानुभूति दर्शातीं।

लालटू ने कई बार रामचन्द्र दत्त को बड़े भक्तिभाव से श्रीरामकृष्ण का नाम लेते सुना था, इसलिए उन महान् सन्त के दर्शन की तीव्र अभिलाषा उसके भीतर जाग उठी थी। शीघ्र ही उसे सुअवसर मिल भी गया। जनवरी १८८०[७] के प्रारम्भ के एक रविवार को जब रामचन्द्र

---

६. 'स्मृतिकथा', पृष्ठ २७।

७. स्वामी गम्भीरानन्द ने अपनी बँगला लेखमाला 'त्यागी भक्तदेर श्रीरामकृष्ण समीपे आगमन' में, जो 'उद्बोधन' (आश्विन एवं कार्तिक बंगाब्द १३५७) पत्रिका में छपी थी,

श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर जाने की तैयारी कर रहे थे, लालटू ने उनसे उसे अपने साथ ले चलने की प्रार्थना की। रामचन्द्र ने यह स्वीकार कर लिया।

श्रीरामकृष्ण (तब चवालीस वर्ष की उम्र के) का व्यक्तित्व अनोखा था, जिसमें से आनन्द और शान्ति की प्रभा फूटती थी। वे सब प्रकार की धार्मिक अनुभूतियों की उपलब्धि कर शान्ति को प्राप्त हुए थे और उनकी कुछ अनुभूतियाँ तो शास्त्रों में वर्णित अनुभूतियों को भी लाँघ गयी थीं। धर्म के विभिन्न मार्गों की बाह्य विभिन्नताओं के भीतर एकता का सूत्र बतलाने की उनकी अपूर्व क्षमता, अध्यात्म-विज्ञान में उनकी गहरी पहुँच, मनुष्य के दिव्य

बतलाया है कि प्रथम भेंट १८७९-८० में हुई थी। सम्भावित तिथि निकालने के प्रयास में हमें यह ध्यान में रखना होगा कि रामचन्द्र दत्त की श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट १३ नवम्बर, १८७९ को हुई थी। लाटू ने रामचन्द्र के परिवारवालों को श्रीरामकृष्ण से अच्छी तरह परिचित पाया था। साथ ही श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर में आठ महीने—३ मार्च, १८८० से १० अक्तूबर, १८८० तक—थे। उनके कामारपुकुर जाने से पूर्व लाटू ने तीन बार उनके दर्शन किये थे। इनमें आखरी भेंट उस समय हुई थी, जब श्रीरामकृष्ण के पास उनके चिकित्सक उपस्थित थे। दूसरी भेंट फरवरी में इसके कुछ हफ्तों पूर्व हुई थी। इसलिए सब सम्भावनाओं को देखते हुए ऐसा माना जा सकता है कि प्रथम भेंट १८८० के प्रथम हफ्ते के रविवार को हुई थी।

स्वभाव के सम्बन्ध में उनकी व्यापक दृष्टि और, सर्वोपरि, मानवमात्र के लिए उनकी चिन्ता और प्रेम ने उनके जीवन और उपदेशों को उज्ज्वल भारतीय परम्परा की जीवन्त व्याख्या बना दिया था। वास्तव में वे उस महाकाव्य-जैसे थे, जो धार्मिक मान्यता के समस्त पहलुओं का सार-संक्षेप एक ही जीवन में समाविष्ट कर देता है। और शीघ्र ही वे एक ऐसा केन्द्र बननेवाले थे, जिसके चारों ओर विभिन्न पथों के निष्ठावान् लोग एकत्र हो उन्हें अपने-अपने आलोक में देखनेवाले थे।

दक्षिणेश्वर का मन्दिर पिछले चौबीस वर्षों से अर्थात् लगभग उनकी आधी उम्र से उनका आवास बना हुआ था। रानी रासमणि द्वारा बनाये मन्दिरों की शृंखला के वायव्य कोनेवाले कमरे में वे रहते थे। वे साम्प्रदायिक विचारों, विरोधाभासों और दार्शनिक विवादों की निन्दा करते तथा मनुष्यों में बच्चों-जैसी सरलता, भगवत्-प्रेम और भगवत्-समर्पण को बढ़ावा देते। फलस्वरूप जो उनके सान्निध्य में आता, उस पर वे गहरा प्रभाव डालते। बड़े-बड़े पदवाले और ऊँची शिक्षाप्राप्त लोग दल के दल इस सीधे और सरल स्वभाववाले दक्षिणेश्वर के सन्त के पास पहुँचने लगे, जो दिव्यानन्द में पगे प्रतीत होते थे। एक बार उन्होंने अपने चौम्बकीय प्रभाव का रहस्य बतलाते हुए कहा था, "इसके (अपनी ओर दिखाते हुए) भीतर ईश्वर की सत्ता है, इसीलिए आकर्षण इतना बढ़ रहा है, लोग खिंचे आते हैं। छूने से ही हो जाता है। वह आकर्षण

ईश्वर का ही आकर्षण है।"[८] लालटू भी इस खिंचाव की परिधि में आ पड़ा।

जब रामचन्द्र लालटू को लेकर दक्षिणेश्वर के मन्दिर पहुँचे, तब श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल पास ही खड़े हुए थे। रामचन्द्र तो रामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट हुए, पर लालटू वहीं बाहर पश्चिमी बरामदे में खड़ा रहा। श्रीरामकृष्ण उस समय कमरे में नहीं थे, पर थोड़ी देर में ही बरामदे में वे यह गुनगुनाते हुए दिखायी पड़े कि 'सखे, मैं उस दिन तुम्हारे वन जाते समय अपने द्वार पर खड़ा तुम्हारी राह देखता रहा' इत्यादि। उन्हें वहाँ देख रामचन्द्र बरामदे में निकल आये। जैसे ही श्रीरामकृष्ण की दृष्टि ठिगने, मजबूत और तगड़े लालटू पर पड़ी, वे रामचन्द्र से पूछ उठे, "इस लड़के को क्या तुम अपने साथ लाये हो? अच्छा राम, इसे तुमने कहाँ पाया? इसमें मुझे साधु के लक्षण दिखलायी पड़ते हैं।"[९] अध्यात्म-विज्ञान के महान् वेत्ता होने के कारण श्रीरामकृष्ण किसी भी आदमी का भीतर-बाहर एकदम पढ़ ले सकते थे। उन्होंने आसानी से लालटू की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया और बिना लालटू के व्यक्तित्व के मुख्य स्वरूप को बदले उन सम्भावनाओं को पूर्णरूप से विकसित करने का निश्चय कर लिया। वे यह भी जान गये कि यह नवागन्तुक उनके

८. 'म': 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा० ३, रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वि० सं०, पृ० १६६।

९. 'स्मृतिकथा', पृ० ३१।

अन्तरंग भक्तों में से एक है। दूसरी तरफ लालटू श्रीराम-कृष्ण के सरलता और पवित्रता से उत्फुल्ल सहज आकर्षक व्यक्तित्व को देख मुग्ध हो उठा। जैसे ही उसने श्रीरामकृष्ण की स्नेहमयी आँखों में देखा, उसके हृदय में आनन्द का ज्वार फूट पड़ा। भीरु, विनीत तथा प्रेमिक लालटू ने श्रीरामकृष्ण के प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव किया।

श्रीरामकृष्ण और रामचन्द्र कमरे के भीतर गये, पर लालटू अन्दर जाने में सकुचाने लगा। रामलाल का आग्रह भी उसकी सकुचाहट नहीं दूर कर सका। तब श्रीरामकृष्ण के आवाज देने पर लालटू भीतर गया और रामचन्द्र का अनुसरण कर उसने श्रीरामकृष्ण को भूमिष्ठ हो प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण रामचन्द्र से वार्तालाप करने लगे। यह देख कि लालटू अभी भी खड़ा है, श्रीरामकृष्ण ने स्नेह से उससे कहा, "बैठ जाओ।" लालटू अपने मालिक रामचन्द्र के पास खिसक आया, पर खड़ा ही रहा। श्रीराम-कृष्ण कहने लगे, "नित्यसिद्ध जीवों के लिए हर जन्म में ज्ञान मुट्ठी में रहता है। वे पत्थर से ढके झरने के समान हैं। जैसे ही किसी जानकार द्वारा पत्थर हटाया जाता है कि जल ऊपर फूट निकलता है।"[१०]

वार्तालाप का यह विषय पूरा भी न हुआ होगा कि श्रीरामकृष्ण आगे बढ़ आये और हाथ से लालटू का स्पर्श किया। इस विद्युत्-स्पर्श ने लालटू के भीतर एक अद्भुत

१०. वही, पृ० ३२।

अनुभव को जगा दिया। भगवान् के लिए खूब प्रबल चाह और प्रेम ने उसके हृदय को घेर लिया और उसका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। देह निःस्पन्द हो गयी, उसे अचानक रोमांच हो आया और उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा प्रवाहित होने लगी। उसके ओठ फड़कने लगे। रामचन्द्र उसकी अवस्था में ऐसा परिवर्तन देख आश्चर्यचकित रह गये। इस आश्चर्यजनक मधुर अनुभवों में से गुजरते हुए लालटू प्रायः एक घण्टे से भी अधिक देर तक अश्रुपात करता रहा। अन्त में रामचन्द्र ने श्रीरामकृष्ण से लालटू को सहज करने की प्रार्थना की। तब श्रीरामकृष्ण ने उसका पुनः स्पर्श किया। तब कहीं लालटू अपने को कुछ संवरित कर सका।[११] श्रीरामकृष्ण के कहने से रामलाल ने लालटू को प्रसाद लाकर दिया। प्रसाद खाने के बाद लालटू अपनी पूर्व की सहजावस्था में लौट आया। यह इस सरलचित्त बालक के लिए एक व्यंजक अनुभूति थी, जिसने उसके अन्तस् में क्रान्ति ला दी थी। और श्रीरामकृष्ण के लिए यह प्रयोग उस बात का उजागर करनेवाला था कि लालटू के भीतर कितनी सम्भावनाएँ हैं और उसकी उन आध्यात्मिक अनुभवों को, जिन्हें श्रीरामकृष्ण उसे बाँटने के लिए आतुर थे, प्राप्त करने के लिए कितनी मानसिक तैयारी है।

श्रीरामकृष्ण ने लालटू को मन्दिर देख आने के लिए

---

११ यह वर्णन रामचन्द्र दत्त के बतलाये अनुसार है, देखें, 'स्मृतिकथा', पृ० ३३।

कहा। लालटू ने वैसा ही किया। जब रामचन्द्र श्रीराम-कृष्ण से विदा ले रहे थे, तब उन्होंने कहा, "अच्छा, इस लड़के को बीच-बीच में भेजते रहना।" लालटू को सम्बोधित करके कहा, "यहाँ आना, जब-जब बन सके आना।" श्रीरामकृष्ण लालटू को 'लेटो' या 'नेटो' कहते; वही दूसरों में प्रचलित हो 'लाटू' हो गया। एक अमिट छाप अपने भीतर लेकर घर लौटता हुआ लाटू अब एक दूसरा ही व्यक्ति बन गया। वह अन्तर्मुखीन हो गया। दत्त परिवार के लोगों की सब प्रकार की झिड़कियाँ सुनने के बावजूद उसे अपने घरेलू काम निरर्थक और नीरस लगने लगे। वह मानो एक चाबीवाले खिलौने-जैसा बन गया था। उसे लगता कि उसकी ध्यान की वृत्ति बेकार की बातों से बार-बार भंग हो रही है।

कुछ हफ्तो बाद, १८८० की फरवरी में, लाटू को श्रीरामकृष्ण के पास जाने का एक सुअवसर पुनः मिला। छह मोल से अधिक पैदल चलकर करीब ११ बजे दिन को वह रामचन्द्र द्वारा भेजे फल तथा मिठाई लेकर दक्षिणेश्वर पहुँचा। वगीचे के रास्ते में ही श्रीरामकृष्ण मिल गये, वहीं उसने उन्हें प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण के साथ उसने विष्णुमन्दिर की आरतो देखी। भाव में विभोर हो वह जोर-जोर से 'जय राम, जय राम' गाने लगा। आरती के समाप्त होने पर श्रीरामकृष्ण ने लालटू से मन्दिर में प्रसाद लेने के लिए कहा, पर बालक का रूढ़िग्रस्त मन उसके लिए तत्पर न हुआ। तथापि अपनो पैनी समझ से

उसने शीघ्र ही एक रास्ता ढूंढ़ निकाला और कहा, "मैं सिर्फ आपका प्रसाद लूंगा—और कुछ नहीं।"[१२] निश्चित ही श्रीरामकृष्ण इससे प्रसन्न हुए होंगे। लाटू ने सारा दिन श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में बिताया और सन्ध्या समय उसने कलकत्ते के लिए विदा ली।

कुछ दिनों बाद चिकित्सकों के कहने पर वायु-परिवर्तन के लिए श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर गये और वहाँ आठ महीने रहे। लाटू उनके अभाव में व्याकुल हो उठा और उसे अपने भीतर खाली खाली लगने लगा। दक्षिणेश्वर की यात्रा उसे और अधिक उदास तथा आकुल बना देती, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के गहरे प्रेम और अपनत्व की याद गहरी हो उठती। मानसिक तड़पन को अकेले में रो-रोकर वह हलका करने की चेष्टा करता। अपनी इस वेदना का बाद में वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था, "तुम जानते हो मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो उठता।...उस समय की मेरी वेदना को तुम कैसे समझ सकोगे? सच कहता हूँ, मेरे हृदय की दशा तुम लोग नहीं समझ सकते। सिर्फ रामबाबू कुछ हद तक मेरी भावनाओं को समझते और मुझे सान्त्वना देते। उन्होंने मुझे श्रीरामकृष्ण का एक चित्र दिया था।"[१३]

जब श्रीरामकृष्ण लौटकर दक्षिणेश्वर आये, तब लाटू को लगा कि मानो उसे नया जीवन मिल गया है। उसकी

१२. वही, पृ० ३५।

१३. वही, पृ० ३९-४०।

अगली दक्षिणेश्वर-यात्रा पर श्रीरामकृष्ण ने उससे रात में वहीं रुकने के लिए कहा। उसने बड़े आनन्द से मान लिया। रात्रि-भोजन के बाद वह श्रीरामकृष्ण के चरण दबाने लगा। उस स्पर्श ने उसके भीतर एक भावावेग उठा दिया और उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। धीरे-धीरे उसकी वाणी अवरुद्ध हो गयी, शरीर निःस्पन्द हो दृष्टि स्थिर हो गयी। घण्टे पर घण्टे बीत गये, पर उसकी दशा नहीं बदली। यह भावावेश दूसरे दिन दोपहर तक तब तक बना रहा, जब तक श्रीरामकृष्ण ने उसे भाव को शान्त करने में सहायता न दी। तब कहीं वह सहजावस्था को प्राप्त हुआ। इस अवसर पर लाटू श्रीरामकृष्ण के पास तीन दिन तक रहा। कुछ जोर देने पर ही वह रामचन्द्र के घर वापस लौटा था।[१४] इस समय तक लाटू के अन्दर श्रीरामकृष्ण के प्रति इतना लगाव पैदा हो गया था कि वह सदा उनके पास ही रहना चाहता था।

जून १८८१ में श्रीरामकृष्ण की देखभाल करनेवाले उनके भानजे हृदयराम मुखर्जी को दक्षिणेश्वर सदा के लिए छोड़कर जाना पड़ा। श्रीरामकृष्ण ने उसकी जगह लाटू को देने के लिए रामचन्द्र से कहा। उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इससे श्रीरामकृष्ण की व्यक्तिगत सेवा करने की लाटू की साध पूरी हुई। वह अपने गुरु की ऐकान्तिक भक्ति के साथ सेवा करने लगा। धार्मिक ग्रन्थों की यह मान्यता कि गुरुसेवा से सर्वोच्च धर्मोपलब्धि हो

१४. 'भक्तमालिका', भा० १, पृ० ४८४।

सकती है, लाटू के जीवन में चरितार्थ होने लगी। गुरु की सामान्य इच्छा या बात भी उसके लिए पवित्र आदेश के समान थी। एक दिन सन्ध्या के समय उसे सोते देख श्रीरामकृष्ण ने हल्के से झिड़कते हुए कहा, "अरे, इस समय सोएगा तो फिर ध्यान कब करेगा?"[१५] बस, इतना पर्याप्त था, इसके बाद से लाटू ने सारा जीवन रात को सोना ही छोड़ दिया। दिन में थोड़ी देर झपकी ले वह पूरी रात अपनी सामर्थ्य भर भगवान् का नाम जपने और ध्यान करने में बिताता। यद्यपि लाटू श्रीरामकृष्ण को बहुत ही ऊँचा स्थान देता, पर उनके साथ उसका बड़ा नजदीकी सम्बन्ध था। अपने सम्बन्ध के बारे में बतलाते हुए उन्होंने बाद में कहा था, "क्या मैं ठाकुर को भगवान् मानता था? यदि ऐसा होता, तो फिर मैं उनकी सेवा कैसे कर पाता, कैसे उनके पास रह पाता? वे मुझे अपने प्यारे पिता-जैसे लगते, इसलिए मुझे कोई चिन्ता न होती, और मैं उनसे बहुत खुला हुआ था।"[१६] वे स्वयंस्फूर्त हो श्रीरामकृष्ण की व्यक्तिगत सेवा के लिए सदा तत्पर रहते। "श्रीरामकृष्ण की सभी जरूरतों को वे समझ जाते और जिस प्रकार माँ बच्चे की देखभाल करती है, उसी प्रकार उनके कम खाने पर या स्वयं के प्रति लापरवाह

१५. 'Disciples of Sri Ramakrishna' (मायावती, अद्वैत आश्रम, १९५५), पृ० १८४।

१६. 'सत्कथा' (बँगला), सम्पादक : स्वामी सिद्धानन्द, कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय, पंचम संस्करण पृ० ६।

दिखने पर वे डाँटते हुए-से उनकी देखभाल करते।"[१७] श्रीरामकृष्ण के एक अन्य अन्तरंग शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द ने यह स्वीकार किया था कि प्यार से की जानेवाली सेवा का गुर उन्होंने लाटू से ही सीखा था।

वर्षों बाद, लाटू स्वामी अद्भुतानन्द बनने पर कहते, "बहुत से लोग आध्यात्मिक साधना में इसलिए सफल नहीं हो पाते, क्योंकि वे लोग ठाकुर के बताये विधान नहीं मानते।"[१८] उनका स्वयं का जीवन पूर्ण आज्ञाकारिता का एक उदाहरण था। बनावट से दूर रहनेवाले लाटू ने कभी अपने गुरु के वचनों पर शंका या बहस नहीं की। श्रीरामकृष्ण के मुख से निकला शब्द लाटू के लिए अन्तिम और पालनीय था।

श्रद्धालु शिष्य के लिए श्रीरामकृष्ण एक ही आधार में सखा, सलाहकार और गुरु थे। लाटू ने एक बार निश्चय किया कि नींद खुलने पर सर्वप्रथम ठाकुर के मुख के सिवाय और किसी का मुख नहीं देखेगा। एक सुबह उठने पर ठाकुर को न पा, उसने आँखें बन्द कर ठाकुर को पुकारना शुरू किया। लाटू की आवाज सुन श्रीरामकृष्ण आये और उसे राहत दी।

लाटू उन बिरलों में से था, जो माँ सारदा की सेवा

---

१७. सिस्टर देवमाता : Sri Ramakrishna and His Disciples, ला क्रेसेन्टा, आनन्द आश्रम, १९२८, पृ० ८८।
१८. 'सत्कथा', पृ० ३९।

का अधिकार पा सके थे। वह उनके लिए आटा गूँधता, बर्तन माँजता, बाजार से सौदा ले आता, आदि। माँ उसे अपनी सन्तान-जैसा स्नेह देतीं और लाटू भी उनकी बहुत श्रद्धा करता। वह कहता, "वे अन्य कोई नहीं साक्षात् लक्ष्मी हैं।" फिर यह भी कहता, "माँ मेरा भूत, भविष्य, वर्तमान सब जानती हैं...। मैं हर किसी से माँ की बात नहीं कहता, क्योंकि वे लोग उनको समझ तो पाएँगे नहीं, बल्कि गलत समझ बैठेंगे।"[१६]

इधर लाटू पूरे तन-मन-धन से श्रीरामकृष्ण की सेवा कर रहा था, तो उधर श्रीरामकृष्ण अज्ञात रूप से दृढ़ता के साथ लाटू को आध्यात्मिक पथ पर ल चल रहे थे। उनका मार्ग-दर्शन इतना प्रभावी था कि चार वर्षों के भीतर ही लाटू ने आश्चर्यजनक रूप से प्रगति कर ली। २० जून, १८८४ को श्रीरामकृष्ण ने उसके सम्बन्ध में कहा था, "इन लड़कों का स्वभाव एक खास तरह का हो रहा है। नोटो (लाटू) ईश्वरी भाव में ही रहता है—वह तो शीघ्र ही ईश्वर में लीन हो जाएगा।"[२०] ईश्वर के लिए इतनी तड़पन ने लाटू के लिए समस्याएँ और खतरे भी उत्पन्न कर दिये, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने हमेशा एक करुणामयी माँ के समान उसकी रक्षा की। एक दिन गंगा के तीर पर उसके ध्यान करते समय नदी में ज्वार आ गया और लाटू के चारों तरफ पानी घिर गया।

१६. 'स्मृतिकथा', पृ० ४१६।

२०. 'वचनामृत', भा० २, पृ० १६१।

श्रीरामकृष्ण के पास खबर पहुँचते ही वे शीघ्रता से आये और लाटू को जगाया। एक दूसरे दिन लाटू एक शिव-मन्दिर में गहरे ध्यान में बैठा था। घण्टे गुजर गये पर पता न लगा। लाटू कहाँ है यह जानने पर श्रीरामकृष्ण आये और पसीने से तरबतर लाटू को पंखा झलने लगे। बाह्य ज्ञान प्राप्त होने पर लाटू बहुत संकोच का अनुभव करने लगा। सच बात तो यह थी कि इन दिनों श्रीराम-कृष्ण अपने सेवक की देखभाल कर रहे थे, अपेक्षा इसको कि सेवक उनकी देखभाल करता।

आन्तरिक जीवन के क्रमिक उद्घाटन से लाटू एक दूसरा ही व्यक्ति बन गया। उसकी देह के रंग में एक चमक आ गयी, दृष्टि स्थिर, गहरी और भावप्रवण हो गयी; आवाज में गम्भीरता और अधिकार आ गया। चाल भी संयत हो गयी तथा कदम नपे-तुले होने लगे।[२१] देहाती बालक अब धीरे-धीरे परिवर्तित हो श्रीरामकृष्ण का आत्मविश्वासी शिष्य एवं पार्षद बन गया।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के पश्चात् लाटू को सर्वोच्च आध्यात्मिक उपलब्धि की इच्छा ने प्रबल रूप से घेर लिया और इसलिए वह और अधिक गहरी आध्या-त्मिक साधनाओं में जुट गया। लगातार छह साल उसने रात-दिन बिना शरीर की परवाह किये जप-ध्यान में

२१. महेन्द्र नाथ दत्त : 'तापस लाटू महाराजेर अनुध्यान' (बँगला), कलकत्ता, महेन्द्र पब्लिशिंग कमिटी, बंगाब्द १३६३, पृ० ५८।

व्यतीत कर दिये। उसकी अथक चेष्टा और ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण की भावना ने मिलकर उसे साक्षात्कार के सर्वोच्च चरण पर पहुँचा दिया। अपने गुरु के समान ही उसका भी ज्ञान के उत्स से सीधा सम्पर्क था और इसलिए औपचारिक शिक्षा के न होते हुए भी वह एक महान् आत्मवेत्ता बन गया। पण्डित तथा दार्शनिक लोग उसके मुख मे ज्ञान-प्रवाह को सुनकर ठगे-से रह जाते। वह एक खिचड़ी भाषा का प्रयोग करता, जिसमें बँगला और भोजपुरी का मिश्रण होता; पर वह उस भाषा के माध्यम से जिस तथ्य को उजागर करता, वह सर्वोच्च ज्ञान का होता। उसके जीवन में श्रीरामकृष्ण की वह भविष्यवाणी पूर्ण हो गयी, जो भावावस्था में श्रीरामकृष्ण के मुख से एक बार फूट पड़ी थी, "अरे लेटो! तू वेद और वेदान्त अपनी टूटी-फूटी भाषा में बोलेगा।"[२२]

संन्यास-व्रत में दीक्षित होते समय उसके असाधारण त्याग तथा तितिक्षा को देखकर स्वामी विवेकानन्द ने लाटू को स्वामी अद्भुतानन्द नाम दिया था।[२३]

लाटू की ज्ञानभरी उक्तियाँ सुन स्वामी विवेकानन्द उन्हें स्नेह से प्लेटो कहा करते थे। इन 'प्लेटो' के लिए महान् विवेकानन्द उनके प्रिय 'लोरेन भाई' थे, जिनका

२२. 'स्मृतिकथा', पृ० ४६१।

२३. देखें स्वामी अभेदानन्द : 'आमार जीवनकथा' (बँगला), कलकत्ता, श्रीरामकृष्ण वेदान्त मठ, बंगाब्द १३७१, पृ० १४१।

साथ वे हमेशा चाहते। वे कहा करते थे, "यदि मुझे लोरेन भाई का साथ मिलता रहे, तो मैं सौ जन्म लेने को तैयार हूँ।"[२४] उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण के अन्य संन्यासी एवं गृही भक्तों के साथ भी उनका सम्बन्ध बड़ा मधुर था।

यद्यपि उनमें बालकवत् विश्वास और श्रीरामकृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव था एवं वे पवित्र चरित्र और नैष्ठिक साधना के धनी थे, तथापि उनकी तीव्र आध्यात्मिक प्रगति का रहस्य था—उनका श्रीरामकृष्ण के प्रति पूर्णरूपेण समर्पण। वे कहा करते थे, "भगवान् के पास पहुँचने का मार्ग बाधाओं और प्रलोभनों से भरा पड़ा है।...प्रत्येक कदम जो तुम उठाते हो, उसके साथ अपने रक्षक को पुकारना पड़ेगा, अपने को पूरी तरह उनके भरोसे छोड़ दो। एकमात्र इस प्रकार की ऐकान्तिक शरणागति से ही प्रलोभनों के जाल से बचने की आशा की जा सकती है। यदि हम सतत सतर्क न रहें और भगवान् की इच्छा पर पूरी तरह से आश्रित न रहें, तो वासनाओं और कामनाओं से कभी मुक्त नहीं हो सकते।"[२५] अपने एक शिष्य को इस प्रकार सावधान करते हुए मानो उन्होंने अपना ही अनुभव व्यक्त किया था।

लाटू महाराज के ऊपरी रूक्ष व्यक्तित्व के भीतर एक

२४. 'Disciples', पृ० १९३।

२५. 'Conversations with a Saint' (Vedanta and the West, हालीवुड, वेदान्त प्रेस), मई १९६७, पृ० ३८।

कोमल हृदय था, जो हमेशा दीन किन्तु निष्ठावान्, पतित किन्तु श्रद्धालु, निर्धन किन्तु विश्वास के धनी लोगों को सहानुभूति देने के लिए तत्पर रहता। वास्तव में वे सबके मित्र थे, वे एक सन्त थे, श्रीरामकृष्ण के सन्देश-वाहक थे। एक बार उन्होंने कहा था, "जितना भी हो सके मनुष्य को साधु-संग करना चाहिए। सन्तों में भगवान् का विशेष प्राकट्य रहता है। उनकी कृपा होने से भगवत्-कृपा का द्वार खुल जाता है।[२६] यह उनके स्वयं के जीवन का सत्य था।

श्रीरामकृष्ण के अन्य त्यागी शिष्यों के ही समान स्वामी अद्भुतानन्द भी अद्वितीय थे। इतना ही नहीं, वे तो आश्चर्यों के आश्चर्य थे, क्योंकि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के स्पर्शमात्र से सर्वोच्च ज्ञान को पा लिया था। उनके एक गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द ने कहा था, "हममें से बहुतों का ज्ञान के मटमैले जल में -से होकर जाना पड़ा, पर लाटू तो हनुमान्जी की तरह उस पर से छलाँग लगाकर चला गया।"[२७]श्रीरामकृष्ण के एक दूसरे आश्चर्य, गिरीश चन्द्र घोष ने एक बार लाटू के बारे में कहा था, "चन्द्रमा में भी दाग हैं, पर लाटू तो एकदम खरा सोना है। मैंने इसके पहले कभी ऐसा बेदाग चरित्र नहीं देखा। लाटू के

---

२६. 'अद्भुतानन्द प्रसंगे' (बँगला), स्वामी सिद्धानन्द, कलकत्ता, उद्बोधन कार्यालय, बंगाब्द १३६७, पृ० १५।

२७. रोमाँ रोलाँ : The Life of Ramakrishna, मायावती, अद्वैत आश्रम, १९७०, पृ० १९४-९५।

सत्संग में मनुष्य पवित्र बन जाते हैं।"[२८]

और स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "लाटू ने जिन परिस्थितियों में से गुजरकर अल्प दिनों में ही आध्यात्मिक जगत् में जैसी उन्नति की है तथा हम लोगों ने जिस अवस्था से जो उन्नति की है, उन दोनों की तुलना करने पर वह हम लोगों का अपेक्षा बहुत महान् है।... एकमात्र ध्यान और धारणा की सहायता से यह जो लाटू अपने मस्तिष्क को ठीक रखते हुए अति निम्न अवस्था से उच्चतम आध्यात्मिक सम्पद् का अधिकारी हुआ है, उससे उसकी अन्तर्निहित शक्ति का तथा उसके प्रति श्रीठाकुर की अशेष कृपा का परिचय मिलता है।"[२९]

लाटू महाराज ने अपनी परिपक्व साधुता के अन्तिम वर्ष वाराणसी में शान्ति और आनन्द बिखेरते हुए, भक्तों को दिव्यता का पथ प्रदर्शित करते हुए तथा श्रीरामकृष्ण की महानता को जीवन के माध्यम से प्रकट करते हुए बिताये थे। अपने गुरु के जीवन और उपदेशों की सही धारणा के कारण उनका उज्ज्वल जीवन श्रीरामकृष्ण के सन्देशों के प्रचार का बहुत सशक्त माध्यम बन गया था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के सभी शिष्य अपने आप में अनूठे थे, पर स्वामी अद्भुतानन्द को भक्ति के दास्य भाव का, जिसमें श्रीरामकृष्ण ने स्वयं पूर्णत्व प्राप्त किया था, एक

---

२८. 'स्मृतिकथा', पृ० ५०१।

२९. 'भक्तमालिका', भा० १, पृ० ४७५।

आदर्श उदाहरण माना जा सकता है।

जब जीवन की अन्तिम घड़ी आ पहुँची, तब पूरी तर से वे अन्तर्मुखीन बन गये, दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर हो गयी. २० अप्रैल, १९२० को वे महासमाधि में लीन हो गये उनका मुखमण्डल ज्ञान और प्रभा की ज्योति से ऐर आलोकित हो उठा कि वह वर्णनातीत था; वे मानो अप परिचितों से अन्तिम विदा ले रहे हों। उनके जीवन अन्तिम कुछ क्षण उस राकेट के सदृश थे, जो कई रंगों व छटा बिखेरता हुआ फूट जाता है।

स्वामी अद्भुतानन्द की महासमाधि पर 'प्रबुद्ध भारत पत्रिका ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा थ "उनकी मृत्यु विलक्षण थी और जीवन पर्यन्त जि आध्यात्मिक जीवन और साक्षात्कार का ही शानद अन्तिम चरण थी।"[३०]

•

३०. 'प्रबुद्ध भारत' (अँगरेजी मासिक), मई १९२०, पृ० ११९

अवतार-रहस्य

(गीताध्याय ४, श्लोक ७–८)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।७।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।८।।

भारत (हे अर्जुन) यदा यदा (जब जब) हि (ही) धर्मस्य धर्म की) ग्लानिः (ग्लानि या क्षय) अधर्मस्य (अधर्म का) अभ्यु-त्थानं (अभ्युदय या वृद्धि) भवति (होता है) तदा (तब) अहम् मैं) आत्मानं (अपने को) सृजामि (सृष्ट करता हूँ)।

"हे अर्जुन, जब जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म की द्धि होती है, तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूँ।"

साधूनां (साधुओं की) परित्राणाय (रक्षा के लिए) च (और) दुष्कृतां (दुष्कर्मियों के) विनाशाय (विनाश के लिए) [और इस कार] धर्मसंस्थापनार्थाय (धर्म की स्थापना के लिए) युगे युगे युग युग में) संभवामि (अवतीर्ण होता हूँ)।

"साधुओं की रक्षा के लिए, पाप-कर्मियों के विनाश के लिए ौर (इस प्रकार) धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में वतीर्ण होता हूँ।"

हमने पिछले प्रवचन में जो प्रश्न रखा था कि ईश्वर

कब और क्यों जन्म लेते हैं, उसका उत्तर हमें इन दो श्लोकों में प्राप्त होता है। ईश्वर तब अपने को आविर्भूत करते हैं, जब धर्म दब जाता है और अधर्म बढ़ जाता है। वे अपने को इसलिए प्रकट करते हैं, जिससे सत्प्रवृत्तिसम्पन्न लोगों की रक्षा हो तथा दुष्प्रवृत्ति में लगे लोगों का दमन, और इस प्रकार समाज-जीवन में धर्म की मर्यादा स्थापित हो।

यह धर्म क्या है, जिसकी रक्षा के लिए ईश्वर को इतनी चिन्ता है ? गीता में 'धर्म' शब्द पहले भी आ चुका है, पर इस अर्थ में नहीं, जो यहाँ पर अभिप्रेत है। गीता का प्रारम्भ ही 'धर्म' शब्द से होता है। कहा गया है— 'धर्मक्षेत्रे' (१।१), अर्थात् कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है। वहाँ 'धर्म' का तात्पर्य दान, यज्ञ, तप आदि कर्मों से है। इसके बाद 'धर्म' शब्द प्रथम अध्याय के चालीसवें श्लोक में आता है—'धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं', पर यहाँ पर वह कुलधर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तीसरी बार उसका उपयोग द्वितीय अध्याय के सातवें श्लोक में हुआ है, जहाँ कहा है— 'धर्मसंमूढचेताः,' पर यहाँ पर उसका अर्थ कर्तव्य लिया जाता है। इसके बाद उसका उपयोग दूसरे ही अध्याय के ३१वें (धर्म्यात्) एवं ३३वें (धर्म्यम्) श्लोकों में हुआ है, पर उन दोनों ही स्थानों पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग पाण्डवों के लिए युद्ध का औचित्य बताने हेतु हुआ है। जो युद्ध हम पर अन्यायपूर्वक थोपा जाय, उसको स्वीकार करना हमारे लिए 'धर्म्य' होगा। उक्त दोनों ही स्थानों पर धर्म्य शब्द युद्ध या संग्राम का ही विशेषण है। फिर आगे ४०वें

गोक में धर्म का प्रयोग करते हुए भगवान् कृष्ण कहते
—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'। यहाँ पर
र्म' शब्द को 'स्वधर्म' के अर्थ में देखा गया है। किन्तु
ालोच्य श्लोक में 'धर्म' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ
, उसके दायरे में उपर्युक्त सभी अर्थ आते हुए भी उसमें
ालक्षणता है। यह धर्म दान, यज्ञ, तप भी है, साथ ही
नसे और भी कुछ अधिक। वह कुलधर्म, कर्तव्य-बोध,
चित कर्म, स्वधर्म आदि होता हुआ भी उनसे आगे गया
आ है।

अँगरेजी में हम धर्म शब्द के लिए रिलीज़न' शब्द का
योग करते हैं। पर यदि थोड़ी गहराई से देखा जाय तो
म पाएँगे कि 'धर्म' कहने से जिस भाव का बोध होता है,
ह 'रिलीज़न' के द्वारा नहीं होता। 'धर्म' शब्द का अर्थ
हाभारत में बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त हुआ है। युधिष्ठिर
शरशय्याशायी भीष्मपितामह से कई प्रश्न किये, जिनमें
क यह भी था कि धर्म किसे कहते हैं। उत्तर में पितामह
कहा (शान्तिपर्व, १०९।१०-१२)—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

-प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का

प्रवचन किया गया है; अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का निश्चय है। धर्म का नाम 'धर्म' इसलिए पड़ा है कि वह सबको धारण करता है—अधोगति में जाने से बचाता और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है; ऐसा धर्म-वेत्ताओं का निश्चय है। प्राणियों की हिंसा न हो, इसके लिए धर्म का उपदेश किया गया है; अतः जो अहिंसा से युक्त हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओं का निश्चय है।

तो, धर्म वह है, जो धारण करता है—व्यक्ति का, परिवार का, समाज का, राष्ट्र का, विश्व का। वे समस्त सिद्धान्त धर्म के अन्तर्गत आते हैं, जो विश्व के सन्तुलन को बनाये रखते हैं। विश्व का सन्तुलन मनुष्य के सन्तुलन पर निर्भर करता है। मनुष्य को छोड़कर विश्व के सभी प्राणी अपनी सहज प्रवृत्ति द्वारा संचालित होते हैं। यह सहज प्रवृत्ति प्रकृति का ही अविच्छेद्य अंग है, अतः उसके द्वारा विश्व के सन्तुलन को कभी किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। वह तो मनुष्य ही है, जो सहज प्रवृत्ति को अपनी बुद्धि द्वारा शासित करने की तथा प्रकृति को संचालित करनेवाले छिपे हुए सिद्धान्तों को प्रकट करने की चेष्टा करता है। यह मनुष्य की बुद्धि का कमाल है, जो एक ओर उसमें निहित अनन्त सामर्थ्य को प्रकट करता है, तो दूसरी ओर विश्व के संहार का भी खतरा पैदा कर

देता है। धर्म वह तन्तु है, जो बिखरने से बचाता है। प्रसिद्ध नास्तिक चिन्तक बर्ट्रण्ड रसेल ने इसे 'विज़डम' कहकर पुकारा है। वे अपने 'दि इम्पैक्ट ऑफ साइन्स ऑन सोसायटी' नामक लेख में कहते हैं—'We are in the middle of a race between human skill as to means and human folly as to ends. Given sufficient folly as to ends, every increase in the skill required to achieve them is to the bad. The human race has survived hitherto owing to ignorance and incompetence, but, given knowledge and competance combined with folly, there can be no certainty of survival. Knowledge is power, but it is power for evil just as much as for good. It follows that unless men increase in wisdom as much as in knowledge, increase of knowledge will be increase of sorrow.'—अर्थात् 'एक ओर साधनों के सम्बन्ध में मानवी कुशलता और दूसरी ओर लक्ष्यों के सम्बन्ध में मानवी मूर्खता की जो दौड़ चल रही है, हम उसके बीच में हैं। यदि लक्ष्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त मूर्खता बनी रहे, तो उनको हासिल करने के कौशल में हर वृद्धि अशुभकारी ही होगी। यह मानव-जाति अब तक अज्ञानता और अक्षमता के कारण बची रही है, पर यदि मूर्खता के साथ ज्ञान और क्षमता का योग हो जाय, तब तो उसके बचने की कोई निश्चितता नहीं। ज्ञान शक्ति तो है, पर वह अशुभ के लिए भी उतनी ही जबरदस्त शक्ति है, जितनी कि शुभ के लिए। अतः

निष्कर्ष यह है कि जब तक मनुष्य विवेक (wisdom) के क्षेत्र में भी उतना ही आगे नहीं बढ़ते, जितना कि ज्ञान (knowledge) के क्षेत्र में, तब तक ज्ञान का बढ़ना दुःख का ही बढ़ना होगा।' रसेल कितनी सही बात कहते हैं। वे ज्ञान और विवेक में अन्तर करते हैं। विज्ञान की प्रगति की बदौलत मनुष्य का ज्ञान तो बढ़ा है, पर उसका विवेक उस अनुपात में नहीं बढ़ा है। इस विवेक को रसेल ने 'विज़डम' कहकर पुकारा है। जब उनसे पूछा गया कि वे 'विज़डम' से क्या समझते हैं, तब उन्होंने उस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा—'The essence of wisdom is emancipation, as far as possible, from the tyranny of the here and the now,'—अर्थात् 'यहाँ और अब (यानी देश और काल) के अत्याचार से यथासम्भव छुटकारा पा लेने में विज़डम का सार है।'

यह पूर्णतः अध्यात्म की भाषा है। भले ही रसेल जड़वादी थे, नास्तिक थे, तथापि मानवतावादी होने के कारण उनकी दृष्टि में वही गहराई है, जो एक अध्यात्मवादी की दृष्टि में होनी चाहिए। वे 'विज़डम' की वकालत करते हैं। हमने इसी 'विज़डम' को धर्म कहकर पुकारा है। यह मानव-समाज को विखण्डित होने से बचाता है। इसके अभाव में विश्व उच्छृंखल अहंवादियों का रणक्षेत्र बन जायगा और मानवता उसके नीचे पिसकर कराहती रहेगी।

डा० जोशिया ओल्डफील्ड ने संयुक्त राष्ट्र संघ की

सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था—'More wars are caused by bad tempered people discussing peace propositions than by good tempered people discussing war measures.' —'जब अशुभ प्रवृत्तिसम्पन्न व्यक्ति शान्ति-प्रस्तावों पर विचार-विमर्श करते हैं, तब अधिक युद्ध होते हैं बनिस्बत इसके कि जब शुभप्रवृत्तिसम्पन्न व्यक्ति रणनीति की मोर्चेबन्दी करते हैं।' उनका तात्पर्य यह था कि विश्व की रक्षा शुभ प्रवृत्तिसम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य में शुभ प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न की जाय ? प्रकारान्तर से प्रश्न यह है कि मनुष्य की अशुभ प्रवृत्ति का नाश कैसे किया जाय ? क्या किसी वैज्ञानिक पद्धति से इसे साधित किया जा सकता है ? जब जापान के नगरों पर द्वितीय महायुद्ध के समय अणुबम गिराये गये, उसके भयावह समाचारों से आइंस्टीन बड़े व्यथित हो उठे थे। जब किसी ने उनसे विज्ञान की ऐसी संहारकारी शक्ति के प्रतिरोध का उपाय पूछा था, तो उन्होंने अत्यन्त दु:ख-भरे स्वर से कहा था—'Science can denature plutonium but it cannot denature the evil that is in the heart of man'—'विज्ञान प्लूटोनियम का स्वभाव तो बदल दे सकता है, पर वह मनुष्य के अन्त:करण में विद्यमान अशुभ के स्वभाव को परिवर्तित नहीं कर सकता !' आइंस्टीन की यह व्यथा कितनी सार्थक है। इसका मतलब यही हुआ कि विज्ञान विध्वंस कर सकता है, मनुष्य के हाथ में अपरिमित बल दे सकता है, पर वह उसकी बुद्धि को

नियंत्रित करने में समर्थ नहीं है, उस बल को सही दिशा देने की शक्ति उसके पास नहीं है। जिसके पास ऐसी शक्ति है, उसी को हम धर्म कहते हैं। यह शक्ति ही विश्व का धारण करती है, उसका पोषण करती है। तभी तो भीष्मपितामह ने धर्म की व्याख्या करते हुए उसे 'प्रभव-संयुक्त' और 'अहिंसासम्पृक्त' कहा है। 'प्रभव' का तात्पर्य है भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक कल्याण। भौतिक समृद्धि जीवन को गति प्रदान करती है और आध्यात्मिकता उस गति को दिशा देती है। ऐसी लक्ष्य-बोध से युक्त जो गति है, वह प्रभव कहलाती है। आज हमारे जीवन में गति तो है, पर हम दिशाहीनता के शिकार हो रहे हैं, इसलिए गति हममें सार्थकता का भाव पैदा करने के बदले थकान, तनाव और अर्थहीनता को जन्म दे रही है। फलस्वरूप हम चिड़चिड़े और हिंसक होते जा रहे हैं। इसीलिए धर्म की व्याख्या में भीष्म पितामह ने 'अहिंसासम्पृक्त' विशेषण का उपयोग उचित समझा।

तो, धर्म वह है, जो मनुष्य का धारण और पोषण करे; जो उसे देह और आत्मा दोनों धरातलों पर आगे बढ़ाए; जो उसके जीवन को अहिंसा से भर दे। इसके विपरीत जो वत्ति होती है, उसे अधर्म कहा जाता है। स्वार्थ तोड़ता है, इसलिए वह अधर्म है। निःस्वार्थता जोड़ती है, इसलिए वह धर्म है। आलोच्य श्लोकों में जिस धर्म की बात कही गयी है, उसका हम यही अर्थ समझते हैं। ऐसे धर्म की

रक्षा के लिए युग-युग में भगवान् नर-देह धारण करते हैं और अपने जीवन में धर्म के उदात्त सिद्धान्तों को उतारकर लोगों के समक्ष आदर्श रख जाते हैं। वे दुष्प्रवृत्तिसम्पन्न व्यक्तियों का दमन कर धर्म के बाधक तत्त्वों को दूर करते हैं। इससे एक ओर जहाँ धर्म की प्रतिष्ठा होती है, वहीं दूसरी ओर धर्म के पथ पर चलनेवाले सज्जनों के हृदय में आशा और उत्साह का संचार होता है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब ईश्वर को समदर्शी कहा जाता है, तब उसे नररूप लेकर सज्जन और दुष्ट में भेद करने का क्या प्रयोजन है ? क्या इससे वह पक्षपाती नहीं बनता ? इसका उत्तर यह है कि ऊपरी दृष्टि से हम यह तो कहते हैं कि ईश्वर सज्जनों की रक्षा करता है और दुष्टों का दलन, पर वास्तव में सत्य यह है कि सज्जनों का कर्म ही उनकी रक्षा करता है और दुष्ट अपने ही कर्मों से मारे जाते हैं। यह कर्म यानी कर्मफल ही मानो अवतार के रूप में आता है। वैसे तो कर्मफल कर्म के अटल न्याय से मिलता है, पर यदि वह मूर्तिमान् होकर मिले, जिससे सबको दिखायी दे, तो उससे शुभ के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा पैदा होती है और अशुभ के प्रति अनास्था। जब लोग देखते हैं कि इतना ऐश्वर्यसम्पन्न रावण, जिससे आकाश-पाताल सभी भय खाते थे, अपनी अशुभ प्रवृत्तियों के कारण कैसे कुत्तों की मौत मरा, कैसे उसके सारे कुल का विनाश हो गया; कंस और उसके अनुचरों की कैसी दुर्गति हुई; दुर्योधन कैसे अपने समूचे

कुल के नाश का कारण बना; तो उनके हृदय में अशुभ से दूर रहने का भाव पैदा होता है; और दूसरी ओर विभीषण और पाण्डवों को देखकर धर्म के पथ पर चलने का उनका साहस और उत्साह बढ़ता है। तात्पर्य यह कि ईश्वर किसी को मारने या बचाने नहीं आता। लोग अपने-अपने कर्मफल के अनुसार सुखी या पीड़ित होते हैं। ईश्वर मानो यह बताने के लिए रूप धारण करता है कि कर्मफल का जीवन्त विग्रह कैसा होता है।

'रामचरितमानस' में इस सत्य को सुन्दर रूप में प्रकट किया गया है। जब श्री राम लक्ष्मण के साथ सीता-स्वयंवर के लिए यज्ञस्थल पर पधारते हैं, तो अलग-अलग लोग उन्हें अलग-अलग रूप में देखते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

जिन्ह कें रही भावना जैसी।
प्रभू मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा।
मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी।
मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा।
तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई।
नर भूषन लोचन सुखदाई॥
नारि बिलोकहिं हरषि हियँ निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥१।२४१

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा ।
बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसें ।
सजन सगे प्रिय लागहिं जैसें ॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी ।
सिसु सम प्रीति न जाति बखानी ॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा ।
सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ॥
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता ।
इष्टदेव इव सब सुख दाता ॥

—एक ही राम को भिन्न-भिन्न व्यक्ति अलग-अलग दृष्टि से देखते हैं। मानो सबका कर्मफल ही श्री राम के रूप में मूर्तिमान् होकर वहाँ आ गया। तभी तो महान् रणधीर राजा लोग उन्हें वीर-रस की मूर्ति के रूप में देख रहे हैं; कुटिल राजाओं को वे बड़ी भयानक मूर्ति के रूप में दिखते हैं; छल करके राजा का वेष बनाये हुए असुर उन्हें काल के रूप में देखते हैं; पुरवासियों की आँखों में वे नरभूषण और 'लोचन सुखदाई' हैं; नारियों की दृष्टि में वे मानो मूर्तिमान् शृंगार-रस हैं; विद्वान् उन्हें विराट् रूप में देख रहे हैं; जनक के कुटुम्बीजन उन्हें सगे-सजन के रूप में तो जनकसमेत रानियाँ अपने बच्चे के रूप में देख रही हैं; योगियों को वे स्वतःप्रकाश परमतत्त्व के रूप में दिखायी दे रहे हैं और भक्तजन उन्हें अपने इष्टदेव के रूप में देख रहे हैं। यह ईश्वर का ही चमत्कार है कि वे

भिन्न-भिन्न लोगों को उनके कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में दिखायी दे रहे हैं।

यहाँ पूछा जा सकता है कि निराकार-निर्गुण तत्त्व क्या आकार और गुण को स्वीकार कर नर-देह धारण कर सकता है? इसका उत्तर भक्तिशास्त्र देता है और कहता है—"हाँ।" जब श्रीरामकृष्णदेव से किसी ने पूछा कि वह निर्गुण-निराकार अपने को साढ़े तीन हाथ के शरीर में कैसे सीमित कर सकता है, तो उत्तर में उन्होंने कहा—जो ईश्वर सारे संसार की रचना करता हुआ असंख्य रूपों की सृष्टि करता है, क्या वह अपने स्वयं के लिए एक रूप का निर्माण नहीं कर सकता? यदि ईश्वर को सर्वसमर्थ मानते हो, तो उसका एक रूप ग्रहण करना भी तो उसी सामर्थ्य के अन्तर्गत आता है। यदि पूछा जाय कि वह रूप क्यों ग्रहण करता है, तो उसका उत्तर प्रस्तुत श्लोकों में दिया गया है।

यहाँ पर ईश्वर के अवतरित होने के पाँच कारण बताये गये हैं—(१) धर्म की ग्लानि, (२) अधर्म का अभ्युत्थान, (३) साधुओं की रक्षा, (४) दुष्कर्मियों का विनाश और (५) धर्म का संस्थापन। इनमें प्रथम दो कारण उस प्रश्न का उत्तर हैं, जिसमें पूछा गया है कि ईश्वर कब अवतार लेता है। शेष तीन कारण ईश्वर के अवतरण का हेतु प्रदर्शित करते हैं।

भगवान् कृष्ण यह जो धर्म की ग्लानि और अधर्म का उत्थान कहते हैं, तो इनमें से एक ही कारण बताने से क्या

नहीं हो सकता था, ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है। इतना कहना ही तो पर्याप्त था कि धर्म की ग्लानि होने पर मैं अपने को प्रकट करता हूँ? इसका उत्तर यों कहकर दिया जाता है कि धर्म की ग्लानि तो न्यूनाधिक सब समय बनी रहती है, पर सभी समय तो ईश्वर अवतार नहीं लेता। लेकिन जिस समय अधर्म बहुत बढ़ जाता है और धर्म को दबा देता है, तब ईश्वर के अवतरण की आवश्यकता होती है। अधर्म का उत्थान यह सूचित करता है कि धर्म की ग्लानि कितनी मात्रा में हुई। न तो केवल धर्म की ग्लानि ईश्वर को रूप लेने के लिए बाध्य कर सकती है और न केवल अधर्म की वृद्धि ही। पर जब ये दोनों कारण मिल जाते हैं और धर्म अधर्म के द्वारा दबा दिया जाता है, तब ईश्वर को आने के लिए विवश होना ही पड़ता है। त्रेतायुग में रावण का उत्कर्ष अधर्म का उत्थान सूचित करता है और महाराज दशरथ तथा अन्य मुनिगण धर्म की ग्लानि प्रदर्शित करते हैं। दशरथ धार्मिक तो थे, पर कैकेयीरूप काम के आगे उनकी कुछ न चली। विश्वामित्र विद्याएँ तो सब जानते थे, पर स्वयं उनका उपयोग न कर पाने की विवशता उनके जीवन में विद्यमान थी। ऋषि-मुनिगण धार्मिक तो थे, पर राक्षसों से वे दबे हुए थे। यह धर्मग्लानि का उदाहरण है। इसी प्रकार द्वापर युग में कंस, दुर्योधन, शकुनि ये सब अधर्म की वृद्धि के उदाहरण हैं तथा भीष्म-द्रोण-धृतराष्ट्र आदि धर्मग्लानि के। जब ये दोनों कारण एक साथ जुडते हैं, तब ईश्वर को बाध्य होकर रूप धारण करना पड़ता है।

ईश्वर अवतरित होकर साधुओं की—भक्तजनों की रक्षा करते हैं। भक्तों की रक्षा का अर्थ है उनकी भावनाओं की रक्षा करना। 'साधूनां' का तात्पर्य केवल संन्यासियों से नहीं है, बल्कि भक्तजनों से है। भक्तों की भावना जब तक बनी रहती है, वे सुरक्षित रहते हैं। भक्त अपनी भावना की डोर से भगवान् को बाँधकर नीचे उतारते हैं। जैसे संस्कृत में एक शब्द है--'अवतरणिका', जिसका अर्थ है सीढ़ी। सीढ़ी कहीं पर इसलिए लगाते हैं, जिससे उसके सहारे नीचे से ऊपर जाया जाय। भक्त ने उस सर्वव्यापी अरूप ईश्वर से कहा--प्रभो, हम आपको पाना चाहते हैं। भगवान् ने उत्तर दिया—मुझे पाना चाहते हो, तो साधना की वह सीढ़ी तो लगी हुई है। उसके सहारे चढ़कर मेरे पास आने की चेष्टा करो। जब तुम नाम और रूप को लाँघ लोगे, तो मुझसे मिल जाओगे। भक्त इस पर बोला—महाराज, देखिए, मैं अकेला ही आपको नहीं पाना चाहता, बल्कि मेरे साथ के ये सब लोग भी आपको पाना चाहते हैं। आपने तो हमें सीढ़ी दिखा दी। पर सीढ़ी के सहारे चढ़कर आपको पाने में हम सबको कितना समय लगेगा यह बता सकते हैं? भगवान् बोले—सो तो, भक्त, मैं नहीं बता सकता। भगवान् को डर लगा कि यदि मेरे मुँह से बात निकल गयी कि मैं तुम लोगों को इतनी अवधि में प्राप्त हो जाऊँगा, तब तो मैं बँध ही जाऊँगा। ऐसा सोच वे प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये। तब भक्त ने कहा—प्रभु, यदि मैं यह बता दूं कि आपसे हम सब एक साथ कैसे मिल सकते हैं, तो आपको

फिर वह करना ही पड़ेगा। यदि आपको यह शर्त स्वीकार हो, तो आपको जो उत्तर नहीं सूझ रहा है, वह मैं बता दूं ? लाचार होकर ईश्वर को भक्त की बात माननी ही पड़ी। तब भक्त बोला—प्रभो, जहाँ कहीं सीढ़ी लगायी जाती है, तो जैसे नीचे का आदमी उसके सहारे ऊपर जाता है, वैसे ही यह भी तो सम्भव है कि जो व्यक्ति ऊपर हो, वह सीढ़ी के ही सहारे नीचे आ जाय। भगवान् बोले—हाँ, यह सही तो है। भक्त तब बोल उठा—तब तो, महाराज, देखिए, हम सबके सब हैं नीचे और आप अकेले हैं ऊपर। तब आप ही उस सीढ़ी के जरिए नीचे क्यों नहीं उतर आते, जिससे हम सब आपको एक साथ पा जायँ ? और ईश्वर इस तर्क के कायल हो जाते हैं। वे सीढ़ी के सहारे नीचे उतरते हैं। यही ईश्वर का अवतरण है।

तो, भक्त ईश्वर को नीचे उतारता है। पर इस नीचे उतरने का यह अर्थ नहीं कि ईश्वर कहीं सात आसमान के ऊपर बैठा हुआ है और वहाँ से वह नीचे उतरेगा। उसका अर्थ है कि सर्वव्यापी ईश्वर अपने को प्रकट करता है। जैसे बिजली तार में सब जगह विद्यमान है, पर उसका प्रकाश केवल बल्ब या लट्टू में दिखायी देता है, ईश्वर का रूप ग्रहण करना भी ठीक उसी प्रकार है। और रूप ग्रहण करके वे सज्जनों की, सत्प्रवृत्तिसम्पन्न लोगों की रक्षा करते हैं, अर्थात् उन लोगों के आगे बढ़ने में जो बाधाएँ होती हैं, उनको दूर करते हैं। फिर, वे दुष्टों का विनाश करते हैं। दुष्टों का विनाश यानी दुष्टों की

दुरभिसन्धियों का नाश। ईश्वर व्यक्ति के वध के पक्षपाती नहीं हैं, वे तो उसकी उन प्रवृत्तियों का नाश करना चाहते हैं, जो प्रजाजनों को हानि पहुँचाती हैं। वे किसी व्यक्ति से प्रेम या क्रोध नहीं करते, वे तो सिद्धान्त से प्रेम करते हैं और किसी भी कीमत पर सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं जैसे, प्रभु रामावतार में रावण के वध के लिए उतने उद्ग्रीव नहीं हैं, जितना कि रावणत्व के विनाश के लिए इसीलिए वे बारम्बार रावण के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजते हैं। रावण का वध उनकी बाध्यता है, विवशता है सर्जन रुग्ण अंग को तभी काटेगा, जब देखेगा कि उससे समूचे शरीर के ही नाश की सम्भावना बन गयी है सर्जन का उद्देश्य रुग्ण अंग को काटना नहीं, बल्कि शरीर को स्वस्थता प्रदान करना है। उसी प्रकार ईश्वर भी किसी व्यक्ति के वध के लिए नहीं अवतरित होते, वे तो मानव-समाजरूपी शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए युग युग में आते हैं। 'विनाशाय च दुष्कृताम्' इस वाक्यांश को हमें इसी सन्दर्भ में समझने की चेष्टा करनी चाहिए वे तो दुष्कर्मियों का भी हित ही चाहते हैं। रामावतार में जब प्रभु सन्धि का प्रस्ताव लेकर अंगद को रावण के पास भेजते हैं, तब वे अंगद से यही कहते हैं—'काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥' (६।१६।८) —'तुम शत्रु से वही बातचीत करना, जिससे हमारा काम हो और उसका कल्याण हो।'

इस प्रकार ईश्वर अवतार लेकर साधुओं की रक्षा

और अशुभ प्रवृत्तिसम्पन्न लोगों का विनाश करते हुए धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं। कहा गया है—'धर्मो रक्षति रक्षितः'—'धर्म रक्षित होने पर रक्षा करता है।' तो, ईश्वर नरदेह धारण कर सज्जनों के मार्ग की बाधाओं को दूर कर, गलत मनोवृत्तियों का नाश कर धर्म की रक्षा करते हैं और इस प्रकार रक्षित हुआ धर्म फिर समाज की रक्षा करता है। इसी को 'धर्मसंस्थापन' कहा गया है।

और ईश्वर क्या एक ही बार अवतार लेते हैं ? कहते हैं—नहीं, नहीं, वे युग-युग में आते हैं। यदि ईश्वर को मात्र एक ही अवतार में सीमित कर दिया जाय, तो प्रश्न उठता है कि अनन्त और असीम को क्या इस प्रकार बाँधा जा सकता है ? क्या यह तर्कसंगत लगता है कि ईश्वर का केवल एक ही पुत्र या एक ही पैगम्बर हो सकता है ? हम मानते हैं कि जब-जब प्रयोजन उपस्थित होता है, जब-जब अधर्म समाज में छा जाता है और धर्म को दबा देता है, तब-तब वे परम कारुणिक भगवान् अपने भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिए, उन्हें साहस और शक्ति देने के लिए, अपनी मधुर लीलाओं के द्वारा उनकी भक्ति की पुष्टि के लिए, दुर्वृत्तियों का संहार कर समाज में सद्-वृत्तियों को प्रसारित करने के लिए युग-युग में अवतीर्ण होते हैं। भगवान् कृष्ण द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का हम यही अर्थ समझते हैं।

●

रसद्दार मथुर (४)

मूल बंगला लेखक—**नित्यरंजन चटर्जी**, कलकत्ता
अनुवादक—**श्यामसुन्दर चटर्जी**, कवर्धा (म० प्र०)

(गतांक से आगे)

अब गदाधर की कठोर साधना प्रारम्भ होती है। माँ को पाने की व्याकुलता और छटपटाहट के कारण उन्हें होश ही नहीं है। भाव में लीन हो कहीं भी, कभी भी, पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। रक्त की धारा बह जाती है। लेशमात्र चिन्तित नहीं। आवेग में कण्ठस्वर भी अवरुद्ध हो जाता है।

यह समाचार कामारपुकुर पहुँचा। माँ चन्द्रमणि तो रो पड़ीं। चिन्तित होकर गदाधर को उन्होंने अपने पास ही कामारपुकुर में बुला लिया।

कामारपुकुर में कुछ दिन व्यतीत करने के पश्चात् गदाधर पुनः दक्षिणेश्वर लौट आये। गदाधर होशहवास में विवाह कर आये हैं जानकर सभी ने चैन की साँस ली। सोचने लगे—वे अब निश्चय ही स्वस्थ हो उठेंगे।

कुछ दिन बीतने पर पुनः दिव्योन्माद का लक्षण दिखायी देने लगा। पूर्वावस्था लौट आयी। वे घर-संसार, आत्मीय-स्वजन सब कुछ भूल गये। 'माँ' 'माँ' की कातर पुकार से दक्षिणेश्वर का वातावरण गूँज उठा। निद्रा चली गयी। आहार में भी कोई रुचि नहीं रही। सारी देह में असह्य जलन प्रारम्भ हो गयी।

"यह कौनसी व्याधि दे दी, माँ ? रातदिन सारा शरीर मानो अग्नि की ज्वाला से धधक रहा है।"

मथुरामोहन ने सब कुछ सुना। गदाधर की चिकित्सा के लिए पुनः वैद्यराज गंगाप्रसाद को बुलाया गया। उन्होंने अच्छी तरह से परीक्षण किया।

"यह रोग तो मालिश, औषधादि से आराम होने का नहीं है। यह तो योगज व्याधि है।" हताश होकर वैद्यराज ने कहा।

मथुरामोहन के अनुरोध पर उन्हें व्यवस्था-पत्र देना पड़ा। चिकित्सा प्रारम्भ हुई। मालिश, गोली, भस्म-चूर्ण सब कुछ दिया गया। किन्तु किसी भी तरह रोग का शमन नहीं हुआ। वही भावोन्माद, वही व्याकुलता, वही माँ-माँ की पुकार। सारी देह में वही असह्य जलन।

"भोग का अन्त न होने पर व्याकुलता नहीं आती है। काम-कांचन का भोग जितना है, वह तृप्त न होने पर जगज्जननी का क्या स्मरण हो पाता है ? लड़का जब तक खेलने में मग्न रहता है, उसे माँ का स्मरण नहीं होता। खेल समाप्त होने पर अनायास ही मुँह से निकल पड़ता है—माँ ! आया !"

"अहंकार, अभिमान, बड़ा कठिन पाश है रे, हृदे। ये किसी भी तरह जाना नहीं चाहते। अच्छा कपड़ा पहना कि घमण्ड हुआ। थोड़ी सी अँगरेजी बोल सकने पर ही अहंकार हो जाता है। थोड़ी सी त्रुटि हुई कि क्रोध, अभिमान पैदा हो जाता है। इसके ऊपर कहीं रुपया हुआ तब तो बात ही क्या है ! मनुष्य फिर मनुष्य नहीं रह

जाता। उसका ज्ञान, विवेक, चेतना सब कुछ जाने कहाँ चला जाता है। वह कैसा विचित्र हो जाता है।"

"एक मेढक के पास एक रुपया था। गड्ढे में जतन से रख दिया था। एक दिन एक हाथी उस गड्ढे को लाँघते हुए निकला। मेढक का सारा शरीर क्रोध से जल उठा। हाथी को बार-बार लात दिखाते हुए कहने लगा—'तुम्हारा इतना साहस, मुझे लाँघकर जाते हो!' —रुपया होने पर ऐसा ही अहंकार हो जाता है।"

"हृदू, स्मरण है कोन्नगर के उस ब्राह्मण का। प्रायः यहाँ आता जाता था। मन लगाकर धर्म की बातें सुनता था। एक अच्छा आदमी था—नम्र, विनयी और सरल। किन्तु बहुत दिनों तक वह फिर नहीं दिखा। एक बार मैं कोन्नगर गया। नाव से नीचे उतरा ही था कि उस ब्राह्मण से भेंट हो गयी। मुझे देखकर बोल उठा—'क्यों ठाकुर? कैसे हो?' उसकी बातों को सुनकर मैं चौंक उठा। तुमको बुलाकर कहा—'अरे हृदे, उसके पास निश्चय ही रुपया हुआ है। नहीं तो ऐसा स्वर उसके गले से कैसे निकलेगा?' "

सारा अभिमान त्यागकर ही उनके पास जाना होगा। तब वे सारी रिक्तता भर देंगे। कालिमा दूर कर देंगे। जो लड़का माँ के सिवाय और कुछ नहीं जानता, धूल में लोट-पोटकर केवल माँ को ही पुकारता रहता है, माँ दौड़ती हुई आकर उसे अपनी गोद में उठा लेती है, आँसू पोंछ देती है, सब मलिनता दूर कर देती है। माँ उसे अपनी समग्र अनुभूति द्वारा जकड़ लेती है और उसके छोटे से

मुँह को चुम्बनों से भर देती है। यहीं सब चाहने, सब पाने की परिसमाप्ति हो जाती है और बच रहता है केवल आनन्द और परिपूर्णता।

गदाधर अनमने होकर बरामदे में टहल रहे हैं। एक बार पश्चिम से पूर्व, फिर पूर्व से पश्चिम की ओर आ-जा रहे हैं। मथुरामोहन समीपस्थ कचहरी-घर (कोठी) में एकाग्र मन से कार्य कर रहे हैं। काम करते हुए बीच-बीच में आँख उठाकर बाबा (गदाधर) को भी देख लेते हैं।

अचानक उनकी आँखों के सामने एक अघटन घटना घट गयी। बार-बार अपनी आँखें मलकर देखने पर भी अपने ऊपर विश्वास नहीं हो पाता है। यह सामान्य पुजारी ब्राह्मण जिसकी उन्मादी, अनाचारी के रूप में ख्याति है, उसके भीतर यह मैं क्या देख रहा हूँ!—साक्षात् शिव और शक्ति को एक ही आधार में! मथुरामोहन अपने को और अधिक नहीं सम्भाल सके। दौड़कर गदाधर के चरणों में लोट गये। आँखों से अश्रु की धारा बह चली।

गदाधर हतप्रभ रह गये।

"यह क्या करते हो, सेजोबाबू! तुम रानी के दामाद हो! ऐसी अवस्था में तुम्हें कोई देख ले तो क्या सोचेगा?"

किन्तु कौन सुनता है किसी की बात? मथुरामोहन रो रहे हैं। उनका रोना बन्द ही नहीं होता।

"बाबा, तुम टहल रहे हो और मैंने स्पष्ट रूप से तुम्हारे मध्य शिवशक्ति को देखा। इधर जब आते हो मानो तुम नहीं हो, इस मन्दिर की मेरी माँ है। फिर पीछे मुड़कर ज्योंही उधर जाते हो, देखता हूँ साक्षात्

महादेव। पहले मैंने समझा आँखों का भ्रम है। आँखें मलकर देखा तो भी वही एक दृश्य। तुम्हारा स्वरूप अब मैंने देख लिया है। मुझ पर कृपा करो, बाबा !"

"क्या मालूम, बाबू। इतना सब कुछ घट गया, पर मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम।" —निर्लिप्त कण्ठ से गदाधर बोले।

मथुरामोहन बहकावे में आनेवाले पात्र नहीं हैं। गदाधर के चरणों को वे किसी भी तरह नहीं छोड़ते। उन्हें तो दिव्य दर्शन हुआ है। गदाधर का वास्तविक रूप उन्हें दिखा है। उन्हें अब उन्होंने सही रूप से पहचान लिया है।

बहुत समझा-बुझाकर गदाधर ने मथुरामोहन को शान्त किया। बाद में कभी बात करते-करते श्रीरामकृष्ण ने कहा था—"मथुर मुझसे प्राणतुल्य स्नेह करता था, नहीं तो इतनी सेवा कोई कर सकता था ? माँ ने उसे अनेक बार अनेक प्रकार से दिखाया-सुनाया था। मथुर की जन्मकुण्डली में लिखा था—उस पर उसके इष्टदेव की कृपा रहेगी, वे शरीर धारण कर उसकी रक्षा के लिए साथ-साथ घूमा-फिरा करेंगे।"

अविश्वास का आवरण हट गया। कच्चा विश्वास पक्का हुआ। मथुरामोहन ने प्राणों में अनुभव किया कि गदाधर सामान्य पुजारी ब्राह्मण नहीं हैं, अपितु मन्दिर की पाषाणमयी स्वयं उनके शरीर में विद्यमान हैं। अब से गदाधर पर उनका आकर्षण और भी बढ़ गया। उनका प्रत्येक कथन मथुरामोहन के लिए वेदवाक्य हो गया।

गदाधर की इच्छा हुई माँ को पायल पहनाने की।

मथुरामोहन ने तुरन्त बनवा दिया—ठीक वैसा ही, जैसा गदाधर ने चाहा था।

गदाधर पानिहाटी उत्सव में जा रहे हैं। मथुरामोहन भी दरवान को ले उनके साथ हो लिये, जिससे भीड़ में बाबा को किसी प्रकार से कष्ट न हो। मथुरामोहन की सतर्क दृष्टि गदाधर पर बनी रहती है।

सखीभाव से साधना करने के लिए गदाधर की इच्छा हुई। मथुरामोहन ने उसी समय बनारसी साड़ी, ओढ़नी, आभूषण आदि खरीद दिये। थोड़ी भी देर नहीं हुई। उन्होंने अपने इष्टदेव को पहचान लिया है। उन्हें अपनी उपासना की चरम परिणति प्राप्त हो गयी है।

रासमणि का देहावसान हुआ। मथुरामोहन सम्पत्ति के अधिकारी बने। गदाधर के नाम से कुछ सम्पत्ति लिख देने की कामना उनमें हुई।

"समझे, हृदय ! मेरी अनुपस्थिति में बाबा को कौन देखेगा ? यही चिन्ता मुझे बड़ी पीड़ा दे रही है। सोचता हूँ, उनके नाम से कुछ सम्पत्ति लिख दूँ। तुम्हारा क्या विचार है ?"

हृदय तो ऐसे ही सुअवसर की ताक में थे। सम्मति व्यक्त करने में उन्होंने थोड़ा भी विलम्ब नहीं किया।

इन लोगों की सलाह-परामर्श की बात गदाधर के कान तक पहुँची।

"साला, मुझे विषयी बनाना चाहता है ? तेरा ऐसा साहस !" —मथुरामोहन को प्रहार करने के लिए दौड़ गये।

मथुरामोहन किन्तु हट जानेवाले पात्र नहीं हैं। बोले—"बाबा, संसार में रहने के लिए रुपये आदि का प्रयोजन होता है।"

"परमानन्द का स्वाद जिसे मिल चुका है, उसके सामने यह सब तुच्छ है। कंचन यदि सत्य होता, तो अपने कामारपुकुर को सोने से मढ़ देता। उसमें कुछ भी नहीं रखा है, रे। संसारी जीव इसे अमूल्य समझता है। यह तो ऊँट के कटीली घास खाने के समान है। मुँह से खून बह रहा है, फिर भी कटीली घास खाएगा ही, किसी भी तरह नहीं छोड़ेगा। स्त्री की मृत्यु हो जाने पर पुनः विवाह करेगा। पुत्र की मृत्यु होने पर कुछ दिन के लिए शोक करता है, फिर सब कुछ भूल जाता है। पुत्र के शोक में माँ अधीर हो उठती है, किन्तु कुछ दिन पश्चात् पुनः गहना पहनती है, जूड़ा बाँधती है। लड़की के विवाह में ये लोग सर्वस्व खो बैठते हैं। फिर भी साल-दर-साल इनके लड़कियाँ होती हैं। मामले-मुकदमे में सब कुछ चला जाता है। फिर भी मामला करना नहीं छोड़ते हैं। लड़के को पेट-भर भोजन नहीं दे सकते, पढ़ा नहीं सकते, फिर भी उनके लड़का पैदा होना बन्द नहीं होता है। यही है संसारी जीव का स्वरूप!"

"त्रैलोक्य सान्याल ने भी तेरे ही जैसी बात की थी। विषयी मनुष्य विषय के सिवाय और क्या सोचेगा? उसने मुझे समझाया कि दान-पुण्य करने के लिए भी रुपये लगते हैं। सुनी उसकी नासमझी। मैंने कहा—तुम लोगों का दान-ध्यान मुझे सब मालूम है। स्वयं ठीक-ठाक रहने से हो

गया। अपनी पत्नी और अपने बच्चों को लेकर ही तो तुम लोगों का संसार है। इसी को लेकर गर्व करते हो, न? अरे, जयगोपाल सेन को ही देखो। अटूट धन लेकर बैठा है। एक पैसा खर्च करने के लिए हाथ कँपता है। यह तुम लोगों के धन का कमाल है।" —एक साँस में गदाधर बोल उठे।

"गिद्ध कितनी ही ऊँचाई पर उड़े, उसकी दृष्टि घूरे पर ही होती है। विषयी मनुष्य की भी तो यही अवस्था है। विषय-चिन्तन में ही दिन बीत जाता है। वह ईश्वर की चिन्ता कब करेगा? अरे, जिसे पा लेने पर माँगने का और कुछ नहीं रह जाता, उसे दूर रखकर नश्वर चीजों को लेकर ही मस्त रहता है। जीवन-दीप जिस दिन बुझ जाएगा, उस दिन संचय के कोठे में कुछ भी तो नहीं रहेगा!"

"एक मछुआरिन मछली बेचने के बाद खाली टोकनी लेकर लौट रही थी। सन्ध्या हो जाने के कारण समीप में ही स्थित एक पुष्पोद्यान में ठहर गयी। माली से रात को ठहरने के लिए अनुमति माँगी। उसने अपने घर के दालान में उसे आश्रय दिया। मन्द-मन्द हवा के बहने से फूलों की सुगन्ध से वातावरण भर उठा है। किन्तु मछुआरिन को नींद नहीं आ रही है। वह सारी रात छटपटाती रही। अन्त में माली से थोड़ा पानी माँगकर उसने अपनी खाली टोकनी पर छिड़क दिया। अब मछली की गन्ध से उसकी आँखों में नींद आ गयी।"

"विषयी मनुष्य भी ठीक इसी तरह के हैं। ईश्वर की

बात, ईश्वरीय चर्चा उन्हें भाती ही नहीं है। उन्हें मछुआरिन की भाँति विषय की गन्ध प्राप्त न होने पर शान्ति नहीं मिलती है।"

मथुरामोहन स्तब्ध रह गये। वे समझ गये कि इस महायोगी का मन सैकड़ों प्रलोभनों से भी विचलित नहीं किया जा सकता।

कुछ दिन और बीत जाने के पश्चात् मथुरामोहन श्रीरामकृष्ण की जननी चन्द्रमणि के पास आये।

"दादी माँ, तुम्हें कुछ देने की मेरी बड़ी साध है। तुम्हें कुछ लेना पड़ेगा। बोलो, तुम्हें किस चीज की जरूरत है?"

अस्सी वर्ष की वृद्धा ने निर्लिप्त, अत्यन्त सरल दृष्टि से मथुरामोहन की ओर आँख उठाकर देखा।

"मुझसे यह क्यों कहते हो, बेटा? भगवान् ने तो किसी भी चीज का अभाव नहीं रखा है। मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए, बेटा। मैं बहुत सुख में हूँ।"

"नहीं, दादी माँ, मैं तो आज किसी भी तरह नहीं छोड़ूँगा, तुम्हें कुछ लेना ही पड़ेगा। तुम्हारे मन में जो भी इच्छा हो, कहो। मुझे निराश मत करो।" —कातर कण्ठ से मथुरामोहन ने कहा।

वृद्धा ने पुनः मुँह उठाकर देखा और गहरी चिन्ता में डूब गयी। किसी भी तरह सोच ही नहीं सकीं कि उन्हें किस चीज का अभाव है।

"बेटा, तुम्हारे कारण मुझे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। यदि कभी किसी वस्तु का प्रयोजन हुआ, मैं तुमसे निश्चय ही माँग लूँगी।"

हाथ के पास ही जो छोटी सी पेटी थी, ढक्कन खोलकर मथुरामोहन के सामने रख दी।

"देखो, इसमें मेरे कितने कपड़े रखे हैं। किसी चीज का अभाव तुमने नहीं रखा है। गंगामाई के तट पर आश्रय मिला है। खाने-पीने की भी सब चीजें हैं, बेटा, फिर और क्या चाहने का ?"

किन्तु मथुरामोहन छोड़ देनेवाले पात्र नहीं हैं।

"मैं संकल्प लेकर आया हूँ, दादी माँ। तुम्हें आज कुछ लेना ही पड़ेगा। मुझे इस तरह न लौटाओ।"

वृद्धा के चेहरे पर प्रसन्नता की रेखा खेल उठी। अधरों पर स्निग्ध मुस्कराहट लिये मथुरामोहन की ओर अपनी शुष्क आँखों को उठाकर शान्त कण्ठ से बोलीं—"जब तुम किसी भी तरह नहीं मानोगे, तो मेरे लिए एक आने का तम्बाकू ले आना।"

विषयी मथुरामोहन चौंक उठे। ऐसे प्रलोभन की कभी कोई स्वेच्छा से उपेक्षा कर सकता है ? कैसी अनासक्ति, कैसा संयम, त्याग का क्या ही अपूर्व निदर्शन है।

वृद्धा को प्रणाम कर मथुरामोहन बोले—"धन्य हो तुम, दादी माँ ! ऐसी माँ न होने से वैसा पुत्र कैसे होगा ?"

गदाधर मथुरामोहन के साथ काशीधाम आये हैं। राजाबाबू की कोठी पर ठहरे हुए हैं। गदाधर को यह परिवेश अच्छा नहीं लगता है।

"यह कहाँ ले आये, सेजोबाबू। मुझे दक्षिणेश्वर भेज दो। यहाँ भी वही एक ही बात सुनता हूँ। वही विषय

और विषय। पूजाघर में प्रौढ़ाएँ पूजा की सामग्री ठीक करने में लगी हैं। कोई नैवेद्य सजा रही है, कोई फल काट रही है; कोई माला गूँथ रही है, किन्तु किसी के मुँह में ईश्वरीय बात नहीं है। केवल परनिन्दा, परचर्चा और जाने कितनी बात।"

मथुरामोहन गदाधर को अच्छी तरह से समझ गये थे। किसी भी तरह इस त्यागी के मन को पिघलाना सम्भव नहीं है। इसलिए समूचा मन-प्राण देकर उनकी सेवा में जुट गये थे। उसी सेवा के माध्यम से उन्हें श्रीरामकृष्ण की अहेतुकी कृपा भी प्राप्त हुई थी। जब कभी भी वे शरणागत हुए, अभय चरणों से आश्वासन प्राप्त हुआ। मथुरामोहन की सभी बाधा, विपत्ति, आपदा दूर हो गयी थी। संशय और द्वन्द्व से भी मुक्त हो गये थे। विषय-सम्पत्ति की रक्षा के लिए लड़ाई-झगड़े में फंसकर बार-बार गदाधर के पास दौड़कर आये और उनके चरणों में लोट गये। बोल उठे—"बचाओ, बाबा! उद्धार करो इस विपत्ति से।"

"साला, तू रोज एक न एक झंझट खड़ा करेगा और मुझसे कहेगा—रक्षा करो। मैं क्या कर सकता हूँ, साला? जा, तेरे को जैसा दिखे कर। मैं कुछ नहीं जानता!"—गदाधर के कण्ठ में भर्त्सना का स्वर है।

मथुरामोहन करुणासिन्धु को भलीभाँति पहचान चुके हैं। नयन-जल से चरणों को भिगो देते हैं।

"तुम्हें छोड़कर मेरा कोई नहीं है; बाबा ! तुम यदि इस तरह दूर हटा दोगे तो मुझे कौन देखेगा ?"

पाषाण पिघल जाता है।—"जा, माँ की इच्छा से ही अब जो होना होगा, होगा", और मथुरामोहन विपद-मुक्त हो गये।

मथुरामोहन गदाधर के चरित्र के माधुर्य से मुग्ध हो गये। लेशमात्र अभिमान-अहंकार नहीं, मन-वाणी से एक और छोटे शिशु की भाँति एकदम सरल !

"कपट-छल और पटवारी-बुद्धि के रहते ईश्वर प्राप्त नहीं होता। देखते नहीं, जहाँ भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, वहीं सरलता है। दशरथ कितने सरल हैं। नन्द, श्रीकृष्ण के पिता, कितने सरल हैं। लोग कहते हैं—अहा, क्या स्वभाव है, ठीक जैसा कि नन्द घोष !"

उस समय खूब ठण्ड पड़ी थी। मथुरामोहन की कामना हुई गदाधर को एक शाल खरीद देने की। हजार रुपये खर्च करके एक शाल ले आये।

"बाबा, तुम्हारे लिए एक शाल लाया हूँ। इसे ग्रहण करना ही पड़ेगा।" मथुरामोहन ने अपने हाथों से गदाधर को शाल ओढ़ा दी।

गदाधर के आनन्द की सीमा न रही। शिशु की भाँति शाल को इसको-उसको दिखाते घमने लगे।

"जानते हो, इसका दाम हजार रुपया है। सेजोबाब ने मेरे लिए खरीदी है। कैसा दिख रहा हूँ बताओ तो ?"

दूसरे मुहूर्त में ही क्या हो गया ? शाल को निकालकर जमीन पर जोर से फेंक दिया। इससे भी उन्हें शान्ति नहीं हुई। लात मारकर, उस पर थूककर, बार-बार कहने लगे—"और चढ़ेगा अंग पर ? अहंकार का घर ! वहीं पड़ा रह।"

सब कोई हतप्रभ रह गये। इतनी कीमती शाल और फिर सेजोबाबू की पसन्द की चीज़। अब तो इस पार या उस पार कुछ हो ही जाएगा। अधीर होकर सब कोई बड़े आग्रह के साथ अपेक्षा करने लगे।

आश्चर्य ! मथुरामोहन को जरा भी क्रोध नहीं आया।

"अच्छा किया। यह मिजाज़ तो तुम्हें ही शोभा देता है, बाबा।"

मथुरामोहन गदाधर को जानबाजार के मकान में कुछ दिन के लिए ले गये। अपने पास रखकर सेवा करने की उनकी बड़ी इच्छा है। सोने की थाली में चावल, सोने की कटोरी में व्यंजन, सोने के गिलास में जल आदि की व्यवस्था हुई। किन्तु जिनके लिए इतना सब कुछ हो रहा है, उन्हें तो कोई ध्यान ही नहीं। भोजन हो जाने पर उठकर सीधे चले जाते हैं। मुड़कर एक बार देखते भी नहीं कि ये पात्र कैसे हैं।

"बाबा, तुम्हीं तो इन सबके मालिक हो। मैं तुम्हारे दीवान के अलावे और कुछ नहीं। तुम्हारा भोजन हो जाने पर इन्हें माँज-धोकर रख देता हूँ। चोरी न चला जाय इसका ध्यान रखता हूँ।"

मथुरामोहन की बातों को सुनकर गदाधर हँस देते हैं।

चन्द्र हालदार मथुरामोहन का कुलपुरोहित है। गदाधर को देखकर वह ईर्ष्या से मरा जाता है।—कहाँ का यह सामान्य पुजारी ब्राह्मण, उसमें ऐसी क्या बात कि सेजोबाबू उसे इतना आदर दें ? यह ब्राह्मण अवश्य ही कुछ जादू-टोना जानता है। नहीं तो कभी ऐसा हो सकता है ?

एक दिन गदाधर को अकेले पाकर ढकेलकर पूछता है—"अरे बम्हन ! बता तो बाबू को तूने अपने बस कैसे किया ? ऐसे क्रोधी मनुष्य को कैसे हाथ में किया ? बहाना बनाके क्यों बैठा है ? जवाब दे न।"

गदाधर तो भावसमाधि में निमग्न हैं। इस भाव को समझने की सामर्थ्य चन्द्र हालदार में कहाँ है ? उत्तर न पा वह गुस्से से लाल हो गया।

"साला, बहाना बनाके पड़ा रहेगा, बोलेगा नहीं !" —पूरी शक्ति से गदाधर को एक लात जमा दी।

इतनी बड़ी घटना घट गयी, मथुरामोहन को कुछ भी नहीं मालूम हुआ।

जिनकी सामान्य पदरेणु के लिए सारा संसार उन्मुख है, उन्हीं पर चन्द्र हालदार ने पदाघात किया।

यह घटना भले ही किसी को मालूम न हुई, पर चन्द्र हालदार को ईश्वर के न्याय का दण्ड प्राप्त होने में विलम्ब नहीं हुआ। उसे बहुत बड़ा दण्ड मिला। एक दिन सामान्य अपराध के लिए उसकी वहाँ से छुट्टी कर दी गयी।

जिस दिन चन्द्र हालदार चला गया, गदाधार ने मथुरामोहन को यह बात बतायी। वे उत्तेजना से काँप उठे।

"यदि यह बात कहीं आगे मालूम हो जाती तो उस ब्राह्मण का सिर ही अलग कर देता। मुझे यह बात बतायी क्यों नहीं, बाबा ?"

"इसीलिए तो नहीं कहा था, रे।"—गदाधर हँसने लगे।

(क्रमशः)

●

एक साधु समाधिमग्न होकर रास्ते के किनारे पड़ा था। इतने में वहाँ एक चोर आया। साधु को देखते ही वह मन ही मन कहने लगा, 'यह जरूर कोई चोर है, रातभर चोरी करने के बाद अब यहाँ पड़ा सो रहा है। अभी पुलिस आकर इसे पकड़ ले जाएगी; मैं भाग निकलूँ।' फिर एक शराबी आया और साधु को देख कहने लगा, 'सारी रात शराब चढ़ाकर अब नाले में पड़े हो ! मैं सब लक्षण समझता हूँ, बेटा !' अन्त में वहाँ एक साधु आया और उस समाधि-मग्न साधु की अवस्था को पहचानकर वह उसकी सेवा करने लगा। (तात्पर्य यह कि हम अपने संसारासक्तिजन्य संस्कारों के कारण यथार्थ आध्यात्मिक सम्पदाओं को नहीं समझ पाते।)

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (६)

स्वामी वागीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(२१)

रचयिता—रामप्रसाद

(राग—झिंझोटी : ताल—बँगला एकताल)

मन रे कृषिकाज जानो ना ।
ए मन मानव जमिन रइलो पतित,
आबाद करले फलतो सोना ॥
कालीनामे दाओ रे बेड़ा,
फसले तछरूप होबे ना ।
से जे मुक्तकेशीर शक्त बेड़ा,
तार काछेते जम घेंसे ना ॥
अद्य किवा शताब्दान्ते बाजाप्त होवे जानो ना ।
एखन आपन एकतारे, (मन रे) चुटिये फसल केटे ने ना ॥
गुरुदत्त बीज रोपन कोरे, भक्तिवारि सेंचे दे ना ।
ऍका जदि ना पारिस मन, 'रामप्रसाद' के संगे ने ना ॥

(भावानुवाद)

(राग—झिंझोटी : ताल—तीनताल)

मन तूने कृषिकर्म न जाना ।
वृथा पड़ी नरदेह-भूमि यह,
श्रम करता तो फलता सोना ॥

कालिनाम की बाड़ लगा ले,
फसल सुरक्षित यदि हो पाना।
उस दृढ़ घेरे के समीप मन,
सम्भव नहीं काल का आना॥
आज नहीं सौ साल बाद तो,
जमीं जब्त हो जावेगी ना।
जब तक अपने हाथों है मन,
खूब फसल पैदा कर ले ना॥
गुरु का दिया बीज बोकर तू,
भक्ति-वारि का सिंचन करना।
अगर अकेले बने न तो मन,
साथ मुझे ले, क्योंकर डरना॥

(२२)

रचयिता—रामप्रसाद

(राग—पीलू-बरवा : ताल—कहरवा)

मन बोलि भजो कालो इच्छा हॅय तोर जे आचारे।
गुरुदत्त महामन्त्र दिवानिशि जप करे॥
शयने प्रणाम ज्ञान, निद्राय करो माके ध्यान।
आहार करो मने करो आहुति दिइ श्यामा मारे॥
जतो शुनो कर्णपुटे, सबइ मायेर मन्त्र बटे।
काली पंचाशत्-वर्णमयी वर्णे वर्णे नाम धरे॥
आनन्दे 'रामप्रसाद' रटे, मा विराजेन सर्वघटे।
नगर फेरो मने करो प्रदक्षिण श्यामा मारे॥

(भावानुवाद)

(राग—पीलू-बरवा : ताल—कहरवा)

मनवा भज काली को निसदिन,
जैसी इच्छा कर पूजा रे।
महामंत्र जो गुरु से पाया,
उसे निरन्तर जपता जा रे॥

शयन तुम्हारा बने प्रणाम,
निद्रा बने ध्यान अविराम।
भोजन करते हुए सोच मन,
—'चढ़ा रहा मैं आहुतियाँ' रे॥

जो कुछ सुनते तेरे कान,
सभी मंत्र वे माँ के जान।
पचास वर्णरूपा यह काली,
बसी हुई वर्णों में सारे॥

सौंप सभी आनन्दमयी पर,
राजमान वह सब घट भीतर।
राह चले तब यही भाव धर,
—'यह है माँ की प्रदक्षिणा' रे॥

(२३)

रचयिता—त्रैलोक्यनाथ सान्याल

(राग—बाउल सुर : ताल—जलद एकताल)

आमाय दे मा पागल करे,
ब्रह्ममयि दे मा पागल करे।

आर काज नाइ मा ज्ञानविचारे ॥

तोमार प्रेमेर सुरा पाने करो मातोवारा,
ओ मा भक्तचित्तहरा डुबाओ प्रेमसागरे ॥

तोमार ए पागला गारदे,
केहो हासे केहो काँदे।

केहो नाचे आनन्द भरे।

ईसा मूसा श्रीचैतन्य, ओ मा प्रेमेर भरे अचैतन्य।
हाय कबे हबो मा धन्य, मिशे तार भितरे ॥
स्वर्गेते पागलेर मेला जेमन गुरु तेमनि चेला,

प्रेमेर खेला के बुझते पारे।

तुमि प्रेमे उन्मादिनी, ओ मा पागलेर शिरोमणि।
प्रेमधने करो मा धनी, कांगाल प्रेमदामेरे ॥

(भावानुवाद)

(राग—बाउलों की धुन : ताल—कहरवा)

मुझको अब पागल कर दे माँ।
ब्रह्ममयी पागल कर दे माँ।
ज्ञान-विचार सभी हर ले माँ ॥

पिला प्रेम-मदिरा का प्याला,
मुझे बना दे तू मतवाला।
अरी भक्तचितहरी डुबो दे प्रेमसमुन्दर में माँ ॥

तेरे इस पागलखाने में,
कोई बिहँसे, कोई रोये,
कोई आनन्दित हो नाचे।
ईसा औ' चैतन्य प्रेम से,
बने हुए थे अचैतन्य-से,
हम होवेंगे धन्य हाय हम हो विलीन उसमें माँ॥
स्वर्ग पागलों का ही मेला,
जैसा गुरु वैसा ही चेला,
समझे कौन प्रेम की लीला।
बनी स्वयं तू प्रेमोन्मादिनि,
सभी पागलों की चूड़ामणि,
इस भिक्षुक को धनी बना दे आज प्रेमधन से माँ॥

●

मन्दोदरी ने अपने पति रावण से कहा था, "यदि तुम्हें सीता को रानी बनाने की इतनी चाह है, तो तुम एक बार अपनी माया से राम का रूप धारण कर उसके सामने क्यों नहीं जाते ?" तब रावण बोला, "छी ! रामरूप का चिन्तन करते ही हृदय में ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है कि उसके आगे ब्रह्मपद भी तुच्छ जान पड़ता है, फिर परायी स्त्री की बात क्या ?"

—श्रीरामकृष्ण